समाधितन्त्र सतात्पर्य

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

सहजानन्द शास्त्रमाला

卐

सर्वाधिकार सुरक्षित

समाधितन्त्र सतात्पर्य

●

मूल रचयिता—

श्रीमन्महर्षिपूज्यपादस्वामी

टीकाकार

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थपूज्यश्री १०५ क्षुल्लक

श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक—

मंत्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

सन् १९८६] [न्योछावर रु० १·५० पैसे

आतम कीर्तन

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।। टेक

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह रागवितान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुखकी खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, सहजानन्द रहूँ अभिराम ।।५।।

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम्

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावाः, प्रापुर्लभन्त अचलं सहजं सुशर्म ।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ।।१।।

शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूलमन्त्रम् ओं मूर्ति मूर्तिरहित स्पृशतः स्वतन्त्रम् ।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पाः, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।२।।

भिन्नं समस्तपरतो परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूरम्, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।३।।

ज्योतिः परं स्वरसमकर्तृ न भोक्तृ गुप्तम् ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्ततत्त्वम्, ।
चिन्मात्रधाम नियतं सततप्रकाशम् शुद्धम् चिदस्मि सहजम् परमात्मतत्त्वम् ।।४।।

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्यम् चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम् ।
यद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानम्, शुद्धम् चिदस्मि सहजम् परमात्मतत्त्वम् ।।५।।

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमंशम् भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम् ।
आनन्दशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्डम्, शुद्धम् चिदस्मि सहजम् परमात्मतत्त्वम् ।।६।।

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमि, नित्यम् निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम् ।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्धम् चिदस्मि सहजम् परमात्मतत्त्वम् ।।७।।

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि यद्ध्यानमुत्तमतया गदितः समाधिः ।
यद्दर्शनात् प्रवहति प्रभुमोक्षमार्गः, शुद्धम् चिदस्मि सहजम् परमात्मतत्त्वम् ।।८।।

(आर्या)

सहजपरमात्मतत्त्वम्, स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्पम् यः ।
सहजानन्दसुवन्द्यम् स्वभावमनुपर्ययम् याति ।। ९ ।।

—०—

श्रीमत्पूज्यपादस्वामिविरचित एवं सहजानन्दवर्णिकृत
अन्वयार्थ तात्पर्यसे अलंकृत

समाधितन्त्र

ॐ

येनात्माऽबुध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम् ।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ।। १ ।।

अन्वय—येन आत्मा आत्मा एव अबुध्यत च अपरम् परत्वेनैव अबुध्यत तस्मै अक्षयानन्तबोधाय सिद्धात्मने नमः ।

अर्थ—जिसके द्वारा आत्मा आत्मा ही जाना गया और पर पररूपसे ही जाना गया उस अविनाशी अनन्त ज्ञानवाले सिद्धात्माके लिये नमस्कार हो ।

तात्पर्य—जिनका ज्ञान इतना पूर्ण निर्मल है कि जिसमें समस्त पदार्थ अपने-अपने चतुष्टय (द्रव्य क्षेत्र काल भाव) स्वरूपमें ही झलकते हैं। सम्बन्ध व विपर्यय रूपमें नहीं झलकते ऐसे अविनाशी व असीम ज्ञानवाले उस सिद्ध अर्थात् पूर्ण शुद्ध व्यक्त परमात्माके प्रति मेरा नमस्कार हो, झुकाव हो, मन वचनकायका समर्पण हो ।

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारतीविभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः ।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः ।।२ ।।

अन्वय—अवदतः अपि अनीहितुः आप यस्य तीर्थकृतः भारतीविभूतयः जयन्ति तस्मै शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे जिनाय सकलात्मने नमः ।

अर्थ—न बोलते हुए भी न चाहते हुए भी जिस तीर्थंकर देवकी भारती (वाणीमय) विभूतियाँ जयवन्त प्रवर्तती हैं उस कल्याणमय, मोक्षमार्ग विधायक, उत्कृष्ट विकासमय, व्यापक, रागादिविजयी, सकल परमात्माके लिये मेरा नमस्कार हो ।

तात्पर्य—तीर्थङ्कर देवका मुमुक्षुवोंपर परम उपकार है। वे बोलते नहीं हैं, चाहते भी नहीं हैं (यदि बोलते व चाहते होते तो ऐसे रागीसे परम उपकार असम्भव था) फिर भी वचनयोग प्रकृतिका उदय व भव्य जीवोंका पुण्योदय इन सब कारणोंसे उनकी दिव्य ध्वनि प्रवर्तित होती है जिसे गणेश महापुरुष गूथते हैं (सुयोजित करते हैं) जिससे ग्रन्थ रचना चलती है जिसके आश्रय मुमुक्षुजन मोक्षमार्गमें चलते हैं। ये सकल (कलसहित) अर्थात् सशरीर हैं ऐसे तीर्थंकर देवको मेरा नमस्कार हो। ये कल्याणमय होनेसे शिव हैं, मोक्षमार्गके नेता होनेसे धाता हैं, सर्वोत्कृष्ट अवस्थामें होनेसे सुगत हैं, लोकालोक व्यापक ज्ञानमय होनेसे विष्णु हैं, रागादिक समस्त वैरियोंको जीत लेनेसे जिन हैं।

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति समाहितान्तःकरणेन सम्यक्।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥३॥

अन्वय—अथ श्रुतेन, लिंगेन, समाहितान्तःकरणेन विविक्तम् आत्मानम् सम्यक् समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां विविक्तं आत्मानम् यथात्मशक्ति अभिधास्ये।

अर्थ—अब शास्त्रके द्वारा, हेतुके द्वारा, एकाग्रीभूत अन्तःकरणके द्वारा सब उपाधियों से पृथक आत्माको भली प्रकार पहिचान करके केवलपना होनेपर होनेवाले सुखकी अभिलाषा करनेवाले मुमुक्षुपुरुषों के लिये शुद्ध आत्म स्वरूपको अपनी शक्तिके अनुसार कहूँगा।

तात्पर्य—जिस आत्मतत्त्वको आगमवचनोंके द्वारा जाना है, जिस आत्मतत्त्वको निर्दोष हेतुके द्वारा लक्षित किया है व जिस आत्मतत्त्वको स्वयं अनुभूत किया है उस शुद्धआत्मतत्त्वको शाश्वत आनन्दके अभिलाषी जीवोंके लिये मैं कहूँगा। इसमें जो शुद्ध आत्मतत्त्व कहा जावेगा वह पूर्ण यथार्थ ही है क्योंकि आगम युक्ति व अनुभवसे पहिचाना हुआ आत्मतत्त्व कहा जा रहा है अतः श्रोताजनो! निःशङ्क होकर समस्त शक्ति लगाकर इस आत्मतत्त्वको सुनना, जानना व मानना।

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥४॥

अन्वय—सर्वदेहिषु बहिः अन्तः च परः इति त्रिधा आत्मा अस्ति । तत्र मध्योपायात् परमं उपेयात् बहिः त्यजेत् ।

अर्थ—समस्त प्राणियों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परात्मा इस तरह तीन प्रकारका आत्मा है। उसमेंसे मध्यके (अन्तरात्माके) उपाय द्वारा परमात्माको अपनावे और बहिरात्माको छोड़े ।

तात्पर्य—सभी जीवोंमें ३ प्रकार की शक्तियोंका सम्बन्ध है। बहिरात्मा तो बहिरात्मा है अन्तरात्मा हो सकेगा, परमात्मा हो सकेगा, अन्तरात्मा अन्तरात्मा है बहिरात्मा था परमात्मा होगा तथा परमात्मा परमात्मा है बहिरात्मा था अन्तरात्मा था। इन सबमें बहिरात्मा तो त्याज्य है अन्तरात्मा उपाय है, परमात्मा उपेय है। सो हे कल्याणार्थियो ! अन्तरात्मापनेका उपाय करके बहिरात्मापनेको छोड़ो और परमात्मापनेको प्राप्त करो।

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः ।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्मातिनिर्मलः ।। ५ ।।

अन्वय—शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः बहिरात्मा, चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः आन्तरः, अतिनिर्मलः परमात्मा ।

अर्थ—शरीर आदिकमें जिसे आत्माकी अर्थात् अपनी (शरीरादिकमें यही मैं हूँ, इस प्रकार) भ्रान्ति हो गई है वह बहिरात्मा है। चित्त (क्षायोपशमिक ज्ञान व संकल्प विकल्प) दोष (रागादिक भाव) व आत्मा (चेतनवस्तु) में जिसका भ्रम नष्ट हो गया है वह अन्तरात्मा है और जो सब विभावोंसे रहित अत्यन्त निर्मल है वह परमात्मा है।

तात्पर्य—जिन्हें त्याज्य, उपाय उपेय बताया है उनका इसमें लक्षण है। बहिरात्मा तो वह है, जिसके अपने सहज स्वरूपमें अपने अस्तित्वकी दृष्टि न रहकर बाह्य पदार्थोंमें बाह्य तत्त्वोंमें आत्मा के अस्तित्वका भ्रम हो गया है अन्तरात्मा वह है जो अल्प विकास, विपरीत विकास व आत्म द्रव्य इनको पृथक् पृथक् स्वरूपमें देखता है अर्थात् आत्माको (अपनेको) विकल्प व राग भाव आदिसे पृथक् शुद्ध ज्ञायकमात्र देखता है। परमात्मा वह है जो अपूर्ण विकासरूप सभी विभावोंसे रहित अत्यन्त निर्दोष व पूर्ण विकासमय है। पर-

मात्मापनकी अवस्था ही शुद्ध, उत्कृष्ट, पूर्व आनन्दमय है वहिरात्मपनकी अवस्था वाह्य अर्थोंमें भटकाने वाली, आकुलता ही देनेवाली, निकृष्ट व अशान्तिमय है, अतः हे कल्याणार्थियो ! अन्तरात्मपनका उपाय करके वहिरात्मपना छोड़ो व परमात्मपनको प्राप्त होओ।

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः।

परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥ ६ ॥

अन्वय—निर्मलः केवलः शुद्धः विविक्तः अव्यय, परमेष्ठी, परमात्मा, ईश्वरः जिनः इति परमात्मा।

अर्थ—निर्मल, केवल, शुद्ध, विविक्तः, प्रभु, अव्यय, परमेष्ठी, परमात्मा जिन इस प्रकारके शब्द परमात्मा के वाचक हैं।

तात्पर्य—निर्मल (कर्ममल रहित) केवल (स्व सहज अस्तित्व मात्र शरीरादिकके सम्बन्धसे रहित शुद्ध) द्रव्यकर्म व भावकर्मसे अतीतत्परमविशुद्धिसम्पन्न) विविक्त (समस्त परद्रव्य व परभावोंसे रहित) प्रभु (प्रकर्षरूपमें विकसित होनेवाले व इन्द्रादिकों के स्वामी) अव्यय (प्राप्त हुए अनन्तज्ञानादि वैभवसे च्युत न होनेवाले) परमेष्ठी (उत्कृष्ट अथवा इन्द्रादि वन्द्य पदमें स्थित) परात्मा (संसारी सब जीवों से उत्कृष्ट आत्मा) ईश्वर (अन्तरङ्ग वहिरङ्ग परम ऐश्वर्यादि सहित) जिन (द्रव्यकर्म व भावकर्म रूपी शत्रुओं को जीतनेवाले) ये सब परमात्माके नाम हैं। इस प्रकार के अन्य भी अनेक नाम परमात्माके वाचक हैं। परमात्माका स्वरूप विवृत करनेके लिये यह श्लोक आया है। इस कारण ये नाम वीतराग सर्वज्ञदेवके पर्यायवाचक समझना। किन्तु, यह ध्यान भी न भूलना कि इस समाधितन्त्र ग्रन्थ द्वारा आचार्य जिस सहजसिद्ध परमात्मतत्त्वकी दृष्टि कराना चाहते हैं, उस चित्स्वभावके भी ये नाम सार्थक होते हैं।

वहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः।

स्फुरितः स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ॥ ७ ॥

अन्वय—इन्द्रियद्वारैः स्फुरितः वहिरात्मा आत्मज्ञानपराङ्मुखः सन् स्वात्मनो देह आत्मत्वेन अध्यवस्यति।

अर्थ—इन्द्रिय द्वारोंसे वाह्य पदार्थोंके ग्रहणमें व्याप्त हुआ वहिरात्मा आत्मज्ञानसे विमुख होता हुआ अपने शरीरको आत्मारूपसे मानता है।

तात्पर्य—मोही जीवके पास जाननेके साधन हैं इन्द्रियाँ और साथ लगा है मोह। इस कारण यह मोही जीव इन्द्रियोंसे वाह्य अर्थके ग्रहणमें प्रवृत्त होता है और इसी कारण आत्मज्ञानसे विमुख हो जाता है। तब इस कारण वह (वहिरात्मा) जिस देहमें बस रहा है उसीको ही अपना आत्मा मान लेता है।

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान्मन्यते नरम्।
तिर्यञ्चं तिर्यगङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा॥ ८॥
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा।
अनन्तानन्तधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः॥ ९॥

अन्वय—अविद्वान् नरदेहस्थं आत्मानं नरं, तिर्यगङ्गस्थं तिर्यञ्चं, सुराङ्गस्थं सुरं तथा नारकाङ्गस्थं नारकं मन्यते। तत्त्वतः स्वयं तथा न, अनन्तानन्तधीशक्तिः स्वसंवेद्यः अचलस्थितिः अस्ति।

अर्थ—अज्ञानी जीव अर्थात् वहिरात्मा मनुष्यदेहमें स्थित आत्माको मनुष्य, तिर्यञ्चदेहमें स्थित आत्माको तिर्यञ्च, देवशरीरमें स्थित आत्माको देव तथा नारकशरीरमें स्थित आत्माको नारकी मानता है। वास्तवमें स्वयं अर्थात् अन्य सम्बन्ध बिना केवल आत्मा उस प्रकार (मनुष्य तिर्यंच देव नारकरूप) नहीं है, किन्तु अनन्तानन्तज्ञानमय, अनन्तानन्तशक्तिमय, स्वानुभवगम्य और निश्चल स्थिर रहनेवाला है।

तात्पर्य—आत्माका (अपना) वास्तविक स्वरूप शुद्ध चैतन्यमात्र है, वह निर्विकल्प स्वानुभव द्वारा ही जाना जा सकता है, किन्तु जिन्हें इस आत्मस्वरूपका परिचय नहीं हुआ ऐसे अज्ञानी जीव अर्थात् वहिरात्मा इन औपाधिक पर्यायोंको (शरीरोंको) ही आत्मा मानते हैं, वस्तुतः आत्मा मनुष्य, तिर्यञ्च, देव व नारकरूप नहीं है।

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्।
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति॥ १०॥

अन्वय—मूढ: परात्माधिष्ठितं अचेतनं परदेहं स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परत्वेन अध्यवस्यति ।

अर्थ—अज्ञानी जीव (वहिरात्मा) अन्य आत्मा द्वारा अधिष्ठित अचेतन परदेहको अपने शरीरकी तरह देखकर पररूपसे अर्थात् परका आत्मा मान लेता है।

तात्पर्य—वहिरात्मा जैसे अपनेको (शरीरको) अपना आत्मा मानता है वैसे ही दूसरेके शरीरको यह दूसरा आत्मा है यह मानता है। वह स्व और पर दोनों जगह गलत मान्यता रखता है।

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम् ।
वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः ॥ ११ ॥

अन्वय—अविदितात्मनां पुंसां देहेषुस्वपराध्यवसायेन पुत्रभार्यादिगोचरः विभ्रमः वर्तते ।

अर्थ—नहीं जाना है आत्मस्वरूप जिन्होंने ऐसे पुरुषोंको शरीरमें यह मैं हूं, यह पर है ऐसा अध्यवसाय होनेसे पुत्र, स्त्री आदि सम्बन्धी भ्रम होने लगता है।

तात्पर्य—अज्ञानी पुरुषको ये तीन भ्रम लगे हैं—(१) जिस शरीरमें यह बस रहा है उसे अपना आत्मा मानना। (२) जिस पर शरीरमें यह आत्मा बस रहा है उस पर शरीरको अन्य आत्मा मानना। (३) जो शरीर जिस शरीरके उत्पादनके निमित्त हैं व जो शरीर रमानेमें निमित्त हैं इसी प्रकार के अन्य अन्य प्रकार परम्परामें निमित्त हैं उनसे परस्पर रिश्तेदारी मानना। जैसे—जो शरीर इस शरीरका उत्पादननिमित्त है उसे पिता-माता मानना, जिस शरीरके उत्पन्न होनेमें यह शरीर निमित्त हुआ उसे पुत्र पुत्री मानना, जो स्त्रीलिङ्गशरीर पुल्लिङ्गशरीरके रमानेमें निमित्त हुआ उसे स्त्री मानना, जो पुल्लिङ्गशरीर स्त्रीलिङ्गशरीरके रमानेमें निमित्त हुआ उसे पति मानना, पुत्रशरीरको रमानेवाले शरीरको पुत्रवधू मानना, पुत्रीशरीरके रमानेवाले शरीरको दामाद मानना, स्त्रीशरीरके उत्पादननिमित्त शरीरको सास-ससुर मानना, स्त्रीशरीरके उत्पादननिमित्त शरीरसे उत्पाद्य शरीरको साला-साली मानना, सालीके

रमानेवाले शरीरको साढू मानना, इस शरीरके उत्पादिकानिमित्तसे उत्पाद्या शरीरको मौसी मानना, इस शरीरके उत्पादकनिमित्त से उत्पाद्या शरीरको बुआ मानना, इस शरीर के उत्पादकनिमित्तके उत्पादकनिमित्तसे उत्पाद्य शरीरको चाचा मानना इत्यादि रूपसे उत्पादन या रमणके हेतु रिश्तेदारी मानना। इस प्रकार ३ तरहके भ्रम वहिरात्मा पुरुषने लगा रक्खे हैं।

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते॥ १२॥

अन्वय—तस्मात् अविद्यासंगितः संस्कारः दृढः जायते, येन लोकः पुनः अपि अङ्गम् एव स्वं अभिमन्यते।

अर्थ—उस विभ्रमसे अविद्यानामक संस्कार दृढ हो जाता है, जिस कारण अज्ञानी जीव फिर भी अर्थात् जन्मान्तरमें भी शरीरको ही आत्मा मान लेता है।

तात्पर्य—इस जन्ममें शरीरको आत्मा माननेके कारण अज्ञानमय जीवन रहता है और वह अज्ञान इतना दृढ़ हो जाता है कि मरणके बाद भी याने अगले जन्ममें भी यह जीव शरीरको ही आत्मा मानता है।

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात्।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनम्॥ १३॥

अन्वय—देहे स्वबुद्धिः निश्चयात् आत्मानं एतेन युनक्ति, स्वात्मनि एव आत्मधीः देहिनं तस्मात् वियोजयति।

अर्थ—देहमें आत्मबुद्धि रखनेवाला वहिरात्मा निश्चयसे अपने आत्माको देहके साथ जोड़ता है, किन्तु अपने आत्मामें आत्मबुद्धि करनेवाला अन्तरात्मा अपने आत्माको शरीरसे पृथक् कर लेता है।

तात्पर्य—जो शरीरको आत्मा मानता है अर्थात् शरीरको अपनाता है वह शरीरसे जुड़ता ही रहेगा, शरीर पाता ही रहेगा, किन्तु जो शरीरको न अपनाकर अपने आत्माको ही आत्मा मानता है वह शरीरसे छुटकारा पा

जायेगा। जो देहको चाहता है उसे देह मिलेगा, जो आत्माको चाहता है उसे आत्मा मिलेगा।

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं जगत् ॥ १४ ॥

अन्वय—देहेषु आत्मधिया पुत्रभार्यादिकल्पनाः जाताः। जगत् ताभिः सम्पत्ति आत्मनः मन्यते। हा हतम्।

अर्थ—शरीरमें आत्मबुद्धि होनेसे पुत्र भार्या आदि कल्पनायें हो गई हैं। यह अज्ञानी जन उन कल्पनाओंके कारण स्त्री पुत्रादि समृद्धिको अपनी मानता है। हाय यह जगत् इस प्रकार नष्ट हो रहा है।

तात्पर्य—देखो, देह में आत्मबुद्धि करनेके क्या फल हुए—स्वदेहको स्व आत्मा माना, परदेहको पर आत्मा माना, परदेहोंमें पुत्र भार्या आदिका भ्रम किया और इस श्लोकमें बताया कि मित्र स्त्री आदि की समृद्धिको अपनी समृद्धि माना। इस कारण उनके सुखमें सुखका नाटक और उनके दुःखमें दुःख का नाटक यह कर रहा है। इस तरह यह अज्ञानी लोक बरबाद हो रहा है।

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वेनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यावृतेन्द्रियः ॥ १५ ॥

अन्वय—संसारदुःखस्य मूल देहे आत्मधीः एव, ततः एनां त्यक्त्वा वहिरव्यावृतेन्द्रियः अन्तः प्रविशेत्।

अर्थ – संसारके क्लेशका मूल शरीरमें आत्मबुद्धिका करना ही है। इस कारण मुमुक्षु आत्मा इस दुर्बुद्धिको छोड़कर वाह्यविषयोंमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति न करता हुआ अपने अन्दर अर्थात् आत्मामें ही प्रवेश करे।

तात्पर्य—पूर्वोक्त विडम्बनाओंसे यह प्रकट सिद्ध है कि संसारके सभी क्लेशोंका मूल कारण शरीरको आत्मा मान लेना है। इस कारण जो सर्व क्लेशोंसे छूटना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे शरीरको आत्मा माननेकी कल्पना को छोड़कर व वाह्यविषयोंसे इन्द्रियोंका व्यापार न करके अपने शुद्ध अन्तस्तत्त्वमें उपयोगको लगावें।

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहम् ।
तान् प्रपद्याहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः ।। १६ ।।

अन्वय— मत्तः च्युत्वा इन्द्रियद्वारैः विषयेषु पतितः अहं तान् प्रपद्य तत्त्वतः अहमिति मां पुरा न वेद ।

अर्थ—अपने आत्मस्वरूपसे च्युत होकर इन्द्रियद्वारोंसे विषयोंमें पतित हुए मैंने उन विषयोंको जकड़कर वास्तवमें मैं ही आत्मा हूँ इस प्रकार पहिले कभी भी नहीं जाना ।

तात्पर्य—अनादिकाल से यह आत्मा अपने आत्मस्वरूप के उपयोग में नहीं है इसी कारण यह इन्द्रियद्वारोंसे इन्द्रियविषयोंको जानता आया और इन्द्रिय-विषयोंमें पतित हो गया तथा आसक्त हो गया। इन कारणोंसे इस जीवने अब तक अपने आत्माको जाना ही नहीं, फिर हितका आरम्भ ही कैसे हो ?

एवं त्यक्त्वा वहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः ।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ।। १७ ।।

अन्वय—एवं वहिर्वाचं त्यक्त्वा अन्तः अशेषतः त्यजेत् । एषः योगः समासेन परमात्मनः प्रदीपः ।

अर्थ—इस तरह अर्थात् आगे कहे जानेवाले न्यायके अनुसार वाह्य वचनप्रवृत्तिको छोड़ करके अन्तर्जल्पको भी पूर्णतया छोड़ देना चाहिये। यह प्रयोग संक्षेपसे परमात्मस्वरूपका प्रकाशक है ।

तात्पर्य—जैसा कि आगे बताया जावेगा स्वतन्त्र वस्तुस्वरूपकी भावना करके वहिरंग व अन्तरंग जल्पोंका त्याग करके आत्मस्वरूपमें ही चित्तनिरोध करे तो परमात्मस्वरूपका दर्शन हो सकता है ।

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ।। १८ ।।

अन्वय—मया यत् रूपं दृश्यते तत् सर्वथा न जानाति । जानत् रूपं न दृश्यते । ततः अहं केन ब्रवीमि ।

अर्थ—मेरे द्वारा जो रूप देखा जा रहा है वह तो बिल्कुल जानता ही नहीं है और जो जाननेवाला स्वरूप है वह देखा नहीं जा सकता है। इस कारण मैं किससे बोलूं?

तात्पर्य—जो दिखता है वह जानता नहीं, जो जानता है वह दिखता नहीं, अतः बोला किससे जावे अर्थात् किसीसे भी नहीं।

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः॥ १९॥

अन्वय—यत् परैः अहं प्रतिपाद्यः यत् परान् अहं प्रतिपादये तत् मे उन्मत्तचेष्टितं, यत् अहं निर्विकल्पकः।

अर्थ—जो ऐसा ख्याल हो कि दूसरोंके द्वारा मैं समझाया जाता हूँ और जो ऐसा ख्याल हो कि मैं दूसरोंको समझाता हूँ वह सब मेरी पागलों जैसी चेष्टा है, क्योंकि मैं आत्मा तो निर्विकल्पक हूँ।

तात्पर्य—मैं आत्मा अपने ही द्रव्य क्षेत्र काल भावसे हूँ, परके द्रव्य क्षेत्र काल भावसे नहीं हूँ। इस कारण मेरी चेष्टा व चेष्टाका असर न तो किसी अन्य पदार्थमें (प्रकृतमें जीवमें) हो सकता है और न किसी अन्य पदार्थकी (अन्य जीवकी) चेष्टा व चेष्टाका असर मुझमें हो सकता है, इस कारण ऐसा ख्याल करना कि मुझे दूसरे लोग समझाते हैं या मैं दूसरोंको समझाता हूँ यह सब भ्रममें मानना भर है। और दूसरी बात यह है कि यह आत्मा वचन विकल्पोंसे ग्रहणमें आता ही नहीं है। अतः इस भ्रमको छोड़ो, बोलनेका परिश्रम मत करो, आत्मामें विश्राम लो।

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥ २०॥

अन्वय—यत् अग्राह्यं न गृह्णाति अपि गृहीतं न मुञ्चति, सर्वं सर्वथा जानाति तत् स्वसंवेद्यं अहं अस्मि।

अर्थ—जो आत्म-द्रव्य ग्रहण न कर सकने योग्यको ग्रहण नहीं करता है और ग्रहण किये गये को छोड़ता नहीं है तथा सर्व पदार्थको सर्व

प्रकारसे जानता है वह अपने द्वारा ही अनुभवमें आने योग्य आत्म-द्रव्य मैं हूँ।

तात्पर्य—आत्मा पदार्थ परपदार्थोंको व औपाधिक भावोंको ग्रहण नहीं कर सकता आत्मस्वरूप नहीं कर सकता क्योंकि वे अग्राह्य हैं और अपने अनन्त ज्ञानगुणोंको छोड़ नहीं सकता क्योंकि वे ग्रहीत ही हैं फिर और स्वरसतः वह करता क्या है? वह तो सर्व पदार्थको सर्व प्रकार जाननेका काम करता है ऐसा चेतन द्रव्य मैं हूँ जो कि स्वयं ही स्वयंके द्वारा अनुभवमें आ सकता हूँ। इस मुझमें परका कोई वास्ता नहीं है।

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम्।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात् ॥ २१ ॥

अन्वय—स्थाणौ उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः तद्वत् विचेष्टितम्, तद्वत् मे चेष्टितम् देहादिषु आत्मविभ्रमात् पूर्वं (आसीत्)।

अर्थ—ठूँठमें उत्पन्न हो गई है पुरुषपनेकी भ्रान्ति जिसको ऐसे मनुष्य की जिस प्रकारकी विपरीत चेष्टा होती है उस प्रकारकी मेरी चेष्टा आत्मभ्रमके कारण आत्मज्ञानसे पहिले थी।

तात्पर्य—जैसे ठूँठको आदमी समझ जानेवाला पुरुष "अब यह मुझे साथी मिल गया या यह मुझे रास्ता ठीक बता देगा या कहीं यह मुझे लूट न लेगा" इत्यादि कल्पनायें करके व्यर्थका सुखी-दुखी होता है, उसी प्रकार शरीरको आत्मा समझ जानेके कारण मैं अज्ञान अवस्थामें "यह मैं बड़ी अच्छी पोजीशनका हूँ इससे मुझे बड़े सुख मिलते हैं या यह कभी बीमार न हो जाय, मर न जाय, ऐसा हुआ तो मैं बरबाद हो जाऊँगा" इत्यादि कल्पनायें करके व्यर्थका सुखी-दुखी हो रहा था।

यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे।
तथाचेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः ॥ २२ ॥

अन्वय—स्थाणौ पुरुषाग्रहे निवृत्ते असौ यथा चेष्टते, देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः [अहं] तथाचेष्टः अस्मि।

अर्थ—ठूँठमें पुरुष माननेका भ्रम नष्ट होनेपर यह पुरुष जिस प्रकार

की चेष्टा करता है, शरीरादिमें आत्मभ्रमरहित होता हुआ मैं उसी प्रकारकी चेष्टावाला हुआ हूँ।

तात्पर्य—ठूंठमें आदमी माननेका भ्रम नष्ट हो जानेपर यह पुरुष जिस प्रकारसे अर्थात् उससे हित अहितकी कल्पना त्यागकर अपने साम्यभावमें रहकर प्राकृतिक प्रवृत्ति करता है। शरीरादिकमें आत्मविभ्रमरहित होता हुआ मैं भी उसी प्रकार अर्थात् देहादिकमें अपने उपकार-अपकार होनेकी कल्पना त्यागकर अपने साम्यभावमें रहकर स्वभावपरिणतिमें प्रवृत्त होता हूँ।

येनात्मानानुभूयेहमात्मनैवात्मनात्मनि।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः॥ २३॥

अन्वय—आत्मना आत्मनि आत्मना एव येन आत्मना अहं अनुभूये सः अहं, न तत् न सा न असौ न एकः न द्वौ वा न वहुः।

अर्थ—अपने ज्ञानके बलसे अपने आपमें अपने आपहीके द्वारा जिस आत्मस्वरूपसे मैं अनुभवा जाता हूँ वह मैं न तो नपुंसक हूँ, न स्त्री हूँ, न पुरुष हूँ, न दो हूँ और न बहुत हूँ।

तात्पर्य—मैं अपने आप अपने स्वसंवेदनज्ञानसे अपने आपमें जिस चित् स्वभावमात्ररूप अपनेको अनुभवता हूँ मैं तो वही चैतन्यचमत्कारमात्र हूँ, वह मैं न किसी लिङ्ग वाला हूँ, न किसी संख्या वाला हूँ और न किसी अन्यरूप हूँ, मैं तो चित्स्वभावमात्र हूँ।

यद्भावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥ २४॥

अन्वय—यद्भावे अहं सुषुप्तः पुनः यद्भावे व्युत्थितः तत् अतीन्द्रियं अनिर्देश्यं स्वसंवेद्यं अहं अस्मि।

अर्थ—जिसके अभावमें मैं सोया हुआ हूँ और जिसके सद्भावमें मैं उठा हुआ हूँ वह अतीन्द्रिय वचनागोचर स्वसंवेद्य मैं हूँ।

तात्पर्य—जिस शुद्ध आत्मस्वभाव (चित्स्वभाव) की प्राप्ति न होनेसे मैं बेहोश रहा आया हूँ और उस ही जिस चित्स्वभावकी उपलब्धि होनेपर मैं

जगा हूँ अर्थात् यथार्थ तत्त्व जानने लगा हूँ वह चित्स्वभावमात्र मैं हूँ, जो न तो इन्द्रियगम्य है और न वचनोंसे कहा जा सकता है, किन्तु मात्र स्वसंवेदनसे गम्य हूँ।

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः ।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥ २५ ॥

अन्वय—तत्त्वतः बोधात्मानं मां प्रपश्यतः अत्र एव रागाद्याः क्षीयन्ते ततः मे न कश्चित् शत्रुः च न प्रियः ।

अर्थ—यथार्थरूपसे ज्ञानात्मक मुझ आत्माको देखनेवाले पुरुषके यहाँ ही रागादिक भाव नष्ट हो जाते हैं। इस कारण मेरा न तो कोई शत्रु है और न कोई प्रिय है।

तात्पर्य—कोई पुरुष (आत्मा) यदि मुझे मेरे वास्तविक सहज चैतन्य स्वरूपमें देख ले तो उसके केवल अगले जन्ममें नहीं इस ही जन्ममें और अभी ही निकट भविष्यमें रागमोहादि विकार दूर हो जाते हैं, फिर वह इस मेरेका शत्रु या मित्र ही क्या होगा ? मुझे वास्तवमें जो पहिचानता है वह न मेरा शत्रु रह सकता न प्रिय रह सकता है।

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥ २६ ॥

अन्वय—मां अपश्यन् अयं लोकः न मे शत्रुः च न प्रियः, मां प्रपश्यन् अयं लोकः न मे शत्रुः च न प्रियः।

अर्थ—मुझको न देखनेवाला यह लोक न तो मेरा शत्रु है और न मेरा प्रिय है। मुझे देखनेवाला यह लोक न मेरा शत्रु और न मेरा प्रिय है।

तात्पर्य—जिस किसी पुरुषके विषयमें शत्रु या मित्रकी कल्पना होती थी उसके सम्बन्धमें यह विचार करें कि यह पुरुष (आत्मा) क्या मुझ ज्ञायक स्वभावमय आत्माको ज्ञानदृष्टिसे देख रहा है तो वह शुद्ध ज्ञाता ही रहेगा मेरा शत्रु-मित्र कैसे हो सकता है ? और यदि मुझे नहीं देख रहा

है तो मेरा शत्रु मित्र कैसे हो सकता है ? जिसे देख रहा है उसका शत्रु-मित्र बन सकता हो तो बनता रहो, मेरा तो नहीं हो सकता।

त्यक्त्वैवं वहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थित: ।
भावयेत् परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् ।। २७ ।।

अन्वय—एवं वहिरात्मानं त्यक्त्वा अन्तरात्मव्यवस्थित: सर्वसंकल्पवर्जितं परमात्मानं भावयेत् ।

अर्थ—इस प्रकार वहिरात्मपनेको छोड़कर अन्तरात्मपनेमें स्थित होता हुआ सर्वसंकल्पोंसे रहित परमात्मपनेको भाना चाहिये ।

तात्पर्य—इसमें हेय, उपाय व उपेय इन तीन तत्त्वोंका वर्णन है। वहिरात्मापन तो हेय है और परमात्मापन उपेय (प्राप्त करने योग्य) है और इन दोनोंका अर्थात् वहिरात्मपनके छोड़नेका व परमात्मापन प्राप्त करनेका उपाय अन्तरात्मा होना है । यह बात चौथे ही श्लोकमें कह दी थी उसके बाद ही २२ श्लोकोंमें स्वरूप, भावना व प्रयोगोंका वर्णन करते हुए शिक्षा देकर यहाँ आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार वहिरात्मापनको छोड़े व अन्तरात्मा बने और परमात्माकी भावना करे ।

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुन: ।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ।। २८ ।।

अन्वय—तस्मिन् भावनया स: अहं इति आत्तसंस्कार: पुन: तत्र एव दृढसंस्कारात् हि आत्मनि स्थितिं लभते ।

अर्थ—उस शुद्ध आत्मस्वरूपमें भावनाके द्वारा वह मैं हूं, इस प्रकारका प्राप्त किया है संस्कार जिसने ऐसा ज्ञानी आत्मा फिर बार-बार उसी भावनाके द्वारा प्राप्त दृढ संस्कारसे आत्मामें स्थितिको प्राप्त करता है ।

तात्पर्य—परमात्मा चेतन द्रव्यका आत्यन्तिक कैवल्यस्वरूप है। उस अन्तर्वाह्य प्रकाशमान कैवल्य स्वरूपका भान करने से अपने आपके सहज कैवल्य स्वरूपका भान होता है। अत: अनन्तज्ञानात्मक परमात्मस्वरूपमें यही मैं हूँ यह मैं हूँ ऐसी बार-बार दृढ भावना होनेसे आत्मामें ज्ञानात्मक अनुभवनेका

दृढ़ संस्कार होता है और इससे आनन्दमय ज्ञानस्वरूपमें उपयोगकी स्थिति होती है । यही आत्माका शाश्वत परमकल्याण है ।

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम् ।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥ २९ ॥

अन्वय—मूढात्मा यत्र विश्वस्तः ततः अन्यत् अभयस्थानं न यतः भीतः ततः अन्यत् आत्मनः अभयस्थानं न ।

अर्थ—मोही आत्मा जिनमें विश्वस्त है उनसे अतिरिक्त और कुछ भयका स्थान नहीं है और जिससे डरा हुआ है उससे अन्य और कुछ अभय का स्थान नहीं है ।

तात्पर्य—वहिरात्मा जिन स्त्री पुत्र आदिकमें दृढ़ विश्वास किये हुए है कि ये मेरे हितकारी हैं इनसे मुझे कभी धोखा न होगा, किन्तु संसारके दुःखोंके त्रासके स्थान ये ही हैं । तथा जिस केवल परम शुद्ध आत्मस्वरूपके संवेदनसे दूर हो रहा है, भय खा रहा है, हितका विश्वास नहीं करता है यही आत्म-संवेदन अभयका स्थान है अर्थात् संसारके दुःखोंका अभाव हो जाय ऐसे पूर्ण अभयका स्थान है । इस कारण आत्मभावनामें कष्ट व भयकी शङ्का न करके ज्ञानभावनामें दृढ यत्न करना चाहिये ।

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना ।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः ॥ ३० ॥

अन्वय—सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेन अन्तरात्मा क्षणं पश्यतः यत् भाति तत् परमात्मनः तत्त्वम् अस्ति ।

अर्थ—समस्त इन्द्रियोंको संयमित करके स्थिर हुए अन्तरात्मबलसे क्षणमात्र अनुभवते हुए जीवको जो चित्स्वरूप प्रतिभासित होता है वह परमात्माका तत्त्व है ।

तात्पर्य—इस श्लोकमें आत्माकी प्राप्तिका उपाय बताया गया है कि हे आत्मार्थियो ! इन इन्द्रियोंको उनके अपने विषयोंमें जाते हुएसे रोक और स्थिरचित्त होकर अपनेमें परम विश्राम कर ! इस स्थितिमें अधिक समय भी न

रह सकेगा तो भी क्षणभर भी अपनेको शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप अनुभूत कर लेगा। बस, यही अनुभूतस्वरूप परमात्माका स्वरूप है, यही वृत्ति आत्माकी प्राप्ति है।

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥ ३१ ॥

अन्वय—यः परात्मा स एव अहं, यः अहं सः परमः, ततः अहं एव मया उपास्यः, अन्यः कश्चित् न इति स्थितिः।

अर्थ—जो उत्कृष्ट आत्मा है वह ही मैं हूँ और जो मैं हूँ वह परम आत्मा है। इस कारण मैं ही मेरे द्वारा उपास्य हूँ दूसरा कोई नहीं, यही तथ्यभूत स्थिति है।

तात्पर्य—कल्याणमय परमात्मस्वरूपकी भावनाके समयमें परमार्थतः अपना स्वरूप ही आराधक होता है और अपना स्वरूप ही आराध्य होता है। इस कारण कि परमात्माका जो स्वरूप है वही मेरा स्वरूप है, मेरे द्वारा मैं ही आराध्य हूँ, मुझसे भिन्न अन्य आराध्य नहीं है। अपनेसे भिन्न अन्य स्थानमें आराधना करनेकी दृष्टि होनेपर चूँकि उपयोग अपने स्रोतको छोड़कर बाह्यकी ओर चला है अतः यथार्थ सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव नहीं हो पाता। अतः यही निर्णय है कि आत्मस्वरूपकी ज्ञानमात्ररूपमें आराधना करनेपर ही आत्माकी प्राप्ति होती है।

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम्।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम् ॥ ३२ ॥

अन्वय—अहं मया एव विषयेभ्यः प्रच्याव्य मयि स्थितम् परमानन्दनिर्वृतम् बोधात्मानं मां प्रपन्नः अस्मि।

अर्थ—मैं अपने ही द्वारा विषयोंसे छुड़ाकर अपनेमें स्थित परमानन्द परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप अपने आत्माको प्राप्त हुआ हूँ।

तात्पर्य—आत्मस्वरूपकी उपलब्धिसे उत्पन्न सहज परम आनन्दसे तृप्त होकर ज्ञानी संकल्प कर रहा है कि मैं तो अब अपनेको विषय-विषसे हटा कर अपने ही द्वारा अपने ही स्वरूपमें स्थित परम आनन्दसे रचे गये ज्ञाना-

त्मक इस एकमात्र परमशरणभूत ऐसे ही आत्माको ही प्राप्त होता हूं जैसा कि अभी प्राप्त हुआ हूं।

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः॥ ३३॥

अन्वय—यः देहात् परं अव्ययं आत्मानं एव न वेत्ति सः परमं तपः तप्त्वा अपि निर्वाण न लभते।

अर्थ—जो देहसे भिन्न अविनाशी आत्माको पूर्वोक्त प्रकारसे नहीं जानता है वह घोर तप तप करके भी मोक्षको नहीं पाता है।

तात्पर्य—जो आत्मा ऐसे अभेदानुभवपद्धतिसे जिसमें कि सहज आनन्द झरता है, देहसे भिन्न अविनाशी सहज अनन्तज्ञानादि चतुष्टयमय अपने आत्माको नहीं जानता है वह घोर तपश्चरणका श्रम करके भी अनन्तज्ञानादिचतुष्टयसम्पन्न पूर्णविकासमय निर्वाणको नहीं प्राप्त होता है।

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः।

तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते॥ ३४॥

अन्वय—आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः तपसा घोरं दुष्कृतं भुञ्जानः अपि न खिद्यते।

अर्थ—आत्मा व शरीरके भेदविज्ञानसे उत्पन्न हुए आनन्दसे आनन्दित सत्पुरुष तपश्चरणसे कठिन अशुभ कर्मफलको अर्थात् क्लेशों को भोगता हुआ भी खेदको प्राप्त नहीं होता है।

तात्पर्य—आत्मा और देहमें दृढ़तम भेदविज्ञान होनेके प्रतापसे देहादिक समस्त पदार्थोंका विकल्प छूटकर एक ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मामें उपयोग स्थिर होता है। इससे जो उत्कृष्ट आनन्द उत्पन्न होता है उसके प्रसादसे तपश्चरणमें झड़नेके लिये पूर्वबद्ध दुष्कृत संक्रान्त व उदीरित होकर बहुतसे और जल्दी उपभोगमें आ जाते हैं उन्हें भोगता हुआ रंच भी खेदको प्राप्त नहीं होता है बल्कि आनन्दरससे तृप्त रहता है।

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।

स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः ॥ ३५ ॥

अन्वय—यन्मनोजलं रागद्वेषादिकल्लोलैः अलोलं सः आत्मनः तत्त्व पश्यति तत् तत्त्व इतरः जनः न (पश्यति) ।

अर्थ—जिस पुरुषका मनरूपी जल रागद्वेषादि तरङ्गोंसे विचल नहीं होता वह पुरुष आत्माके सहज स्वभावको देखता है, उस तत्त्वको दूसरा प्राणी नहीं देख सकता ।

तात्पर्य—जिन पुरुषोंका मन रागद्वेष आदि विकल्प तरङ्गोंसे कलुषित चञ्चल होता है अथवा तपश्चरण कहते हुए जिनका मन खेदको प्राप्त होता है वे आत्माके स्वरूपको नहीं देख सकते हैं । अतः आत्मदर्शन पानेके लिये अपने मनोजलको उपयोगको, निर्मल निर्विकल्प स्वच्छ रखना ही चाहिये ।

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः ।

धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥ ३६ ॥

अन्वय—अविक्षिप्तं मनः आत्मनः तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिः । ततः अविक्षिप्तं तत् धारयेत् विक्षिप्तं न आश्रयेत् ।

अर्थ—अविक्षिप्त मन तो आत्माका तत्त्व है व विक्षित मन आत्माका विभ्रम है । इस कारण अविक्षित मनको तो धारण करे और विक्षित मनको आश्रय न देवे ।

तात्पर्य—रागादिक भावसे परिणत मन जो कि चंचल है विक्षिप्त मन कहलाता है ऐसे मनके प्रति लोगोंको आत्माकी भ्रान्ति हो गई है अथवा मनका विक्षिप्त होना आत्माका निजरूप नहीं है वह आत्मविभ्रम है उसमें आत्माका तत्त्व नहीं, स्वरूप नहीं, कल्याण नहीं है । इस कारण इसलिये मनको रागादि परिणत न करके रागादिरहित उपयोगको धारण करना चाहिये ।

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः ।

तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥ ३७ ॥

अन्वय—मनः अविद्याभ्याससंस्कारैः अवश क्षिप्यते, तत् एव ज्ञान-संस्कारैः स्वतः तत्त्वे अवतिष्ठते ।

अर्थ—मन अज्ञानके अभ्याससे हुए संस्कारोंके द्वारा विवश होकर विक्षिप्त हो जाता है और वह ही मन ज्ञानके संस्कारोंके द्वारा स्वयं ही स्वरूप में ठहर जाता है ।

तात्पर्य—मन शरीर आदिक पवित्र है, स्थायी है, हितकारी है, अपना है, ऐसी असत्य मान्यता बनाने और जारी रखनेसे जो अविद्याका संस्कार बन जाता है उससे मन विक्षिप्त हो जाता है, वशरहित हो जाता है, इन्द्रियाधीन हो जाता है । वही मन यथार्थज्ञानके संस्कारसे आत्मस्वरूपमें लग जाता है । इस कारण परमात्मतत्त्व पानेके लिये "निजको निज परको पर जान" की विधिसे सम्यग्ज्ञान बनाये रहना चाहिये ।

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः ।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः ।। ३८ ।।

अन्वय—यस्य चेतसः विक्षेपः तस्य अपमानादयः, यस्य चेतसः क्षेपः न तस्य अपमानादयः न ।

अर्थ—जिसके चित्तका विक्षेप है उसके अपमानादिक होते हैं, जिसके चित्तका विक्षेप नहीं है उसके अपमानादिक नहीं होते ।

तात्पर्य—जिसका चित्त रागादिभावसे कलुषित होता है उसके ही अपमान मानना, घमंड करना, ईर्ष्यादि करना आदिक खेद उत्पन्न होते हैं । जिसके चित्तमें रागादिक भाव नहीं है उसके अपमानादिक खेद भी नहीं होते हैं । इस कारण खेदरहित होनेके लिये राग द्वेष मोह अज्ञानसे निवृत्त होना चाहिये ।

यदा मोहात् प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः ।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात् ।। ३९ ।।

अन्वय—यदा मोहात् तपस्विनः रागद्वेषौ प्रजायेते तदा एव स्वस्थं आत्मानं भावयेत्, क्षणात् शाम्यतः ।

अर्थ—जब मोहकर्मके उदयसे तपस्वीके राग और द्वेष उत्पन्न होते हों उस ही समय अपने आपमें स्थित आत्मस्वरूपको भा लेवे तो क्षण भरमें वे राग-द्वेष शान्त हो जाते हैं।

तात्पर्य—चारित्र मोहनीय कर्मके उदय होनेपर राग और द्वेष के विकार आत्मामें उत्पन्न होते हैं। जब ऐसे राग-द्वेष उत्पन्न हों जो बुद्धि में आवें उस समय भी ज्ञानी तपस्वीके अन्तरमें ज्ञानप्रतीतिका बल तो रहता ही है सो उस ज्ञानीको चाहिये कि अपने आपमें स्थित आत्माकी भावना करे। इस उपायसे राग-द्वेष क्षणमात्रमें शान्त हो जाते हैं।

यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम् ।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ॥४०॥

अन्वय—यत्र काये मुनेः प्रेम, ततः देहिनं बुद्ध्या प्रच्याव्य तदुत्तमे काये योजयेत्; प्रेम नश्यति।

अर्थ—जिस शरीरमें मुनिका प्रेम हो उससे आत्माको भेदविज्ञान द्वारा हटा करके उससे उत्कृष्ट कायमें लगा देवे तो प्रेम नष्ट हो जाता है।

तात्पर्य—जब अपने या परके शरीरमें व इन्द्रियोंके विषयोंमें किसी मुनिको, अन्तरात्माको प्रेम उत्पन्न होने लगे तब उसका कर्त्तव्य है कि उस असार अशुचि शरीरसे व इन्द्रिय विषयोंसे अपनेको हटाकर उससे उत्तम कायमें अर्थात् आत्मस्वरूपमें अपनेको लगादे। इससे वह प्रेमरूपी विभाव संकट नष्ट हो जावेगा।

आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति ।
नायतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः ॥ ४१ ॥

अन्वय—आत्मविभ्रमजं दुःखं आत्मज्ञानात् प्रशाम्यति। तत्र अयताः परमं तपः कृत्वा अपि न निर्वान्ति।

अर्थ—परमें आत्माके भ्रमसे उत्पन्न हुआ दुःख आत्मज्ञानसे शान्त हो जाता है। उसमें यत्न न करने वाले प्राणी घोर तपको करके भी मुक्त नहीं हो सकते हैं।

तात्पर्य—शरीरादिकमें यह मैं आत्मा हूं ऐसा भ्रम उत्पन्न होनेसे महान् क्लेश उत्पन्न होता है। वह क्लेश शरीरसे भिन्न आत्मस्वरूपके संवेदनसे नष्ट होता है, आत्मज्ञान का उपाय किये बिना दुर्धर तप के अनुष्ठानसे भी नष्ट नहीं होता है। उस आत्मस्वरूपकी दृष्टि प्राप्तिका यत्न न करनेवाले दुर्धर तपको करके भी मोक्ष नहीं पा सकते हैं। अतः समस्त यत्नपूर्वक ज्ञानात्मक आत्मस्वरूपके संवेदन करना चाहिये।

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥ ४२ ॥

अन्वय—देहे उत्पन्नात्ममतिः शुभं शरीर च दिव्यान् विषयान् अभिवाञ्छति, तत्त्वज्ञानी ततः च्युतिम्।

अर्थ—शरीरमें उत्पन्न हुई है आत्मबुद्धि जिसके ऐसा प्राणी सुन्दर शरीरको और देवगतिके प्रायः विषयोंको चाहता है। तत्त्वज्ञानी पुरुष उनसे (शरीर व विषयोंसे) हटना चाहता है।

तात्पर्य—जब शरीरमें "यह मैं हूँ" ऐसी आत्मबुद्धि है तो जिसे अपना आप समझा है उसके पोषणमें यत्न होगा सो शरीरमें आत्मबुद्धि होनेके कारण यह वहिरात्मा सुन्दर या देवके शरीरको तथा स्वर्गसम्बन्धी विषयोंकी अभिलाषा करता है, किन्तु ज्ञानानन्दमय आत्मतत्त्वका ज्ञानी अन्तरात्मा शरीरादिक समस्त परपदार्थों व परभावोंसे पृथक होना चाहता है। ज्ञानीकी तो रुचि ज्ञानमात्र अनुभवक लिये ही जगती है।

परत्राहंमतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहंमतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ॥ ४३ ॥

अन्वय—परत्र अहंमतिः स्वस्मात् च्युतः असंशयं बध्नाति। स्वस्मिन् अहंमतिः बुधः परस्मात् च्युत्वा मुच्यते।

अर्थ—पर पदार्थमें अहंबुद्धि रखनेवाला वहिरात्मा निजस्वरूपसे भ्रष्ट होता हुआ निःसंदेह कर्म बांधता है। निजस्वरूपमें आत्मबुद्धि रखनेवाला ज्ञानी परसम्बन्धसे च्युत होकर कर्मसे छूट जाता है।

तात्पर्य—जिसकी शरीरादिक परद्रव्यमें "यह मैं हूं" ऐसी आत्मबुद्धि

होती है वह परमें ही उन्मुख होगा, परमें उन्मुख होनेसे आत्मस्वरूपकी दृष्टिसे च्युत हो जायेगा इसमें कोई संदेह नहीं है किन्तु जैसे ज्ञानस्वरूपमें ही "यह मैं हूँ" ऐसी दृढ अन्तरात्मत्वबुद्धि जगी हैं वह स्वमें ही उन्मुख होगा, परसे च्युत होगा और अन्तमें सकलकर्मके बन्धनसे मुक्त हो जायगा। अतः आत्मस्वरूपमें ही आत्माकी प्रतीति करो।

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम्॥ ४४॥

अन्वय—मूढः दृश्यमानं त्रिलिंगं इदं अवबुध्यते तु अवबुद्धः निष्पन्नं शब्दवर्जितं इदं इति।

अर्थ—अज्ञानी तो दृष्यमान तीन लिङ्ग वाले शरीरको यह (आत्मतत्त्व) मानता है, परन्तु ज्ञानी स्वयंसिद्ध शब्दरहित आत्मतत्त्वको यह आत्मस्वरूप है ऐसा मानता है।

तात्पर्य—इस संसारी प्राणीको दृश्यमान पदार्थ ही विदित है, इससे भिन्न मैं कुछ हूं इसकी प्रतीति नहीं है और स्वयंका प्रभाव किया नहीं जा सकता। अतः अपने अतिनिकटस्थ देहमें यह मैं हूं ऐसी बुद्धि करता है। देह है पुरुष स्त्री नपुंसकरूप सो अपनेको त्रिलिङ्गरूप मानता है। किन्तु यथार्थज्ञान प्रकाशमें जगा हुआ ज्ञानी आत्मा अपने अनादिसिद्ध शब्दागोचर आत्मतत्त्वको लक्ष्यमें लेकर "यह मैं हूँ" ऐसा मानता है।

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रान्तिं भूयोऽपि गच्छति॥ ४५॥

अन्वय—आत्मनः तत्त्वं जानन् अपि विविक्तं तं भावयन् अपि पूर्वविभ्रमसंस्कारात् भूयः अपि भ्रान्तिं गच्छति।

अर्थ—आत्माके सहज स्वरूपको जानता हुआ भी व परभावोंसे विविक्त उस आत्मतत्त्वको भाता हुआ भी जीव पूर्वकृत भ्रमके संस्कारके कारण फिर भी भ्रमको प्राप्त हो जाता है।

तात्पर्य—जब यह आत्मा आत्मतत्त्वको जान चुका फिर क्यों रागद्वेष

करता है और कभी-कभी तो ज्ञानसे च्युत होकर मोहको, भ्रमको प्राप्त हो जाता है। ऐसा क्यों होता है ? इसका समाधान इस श्लोकमें है कि शारीरिक परद्रव्योंसे भिन्न आत्मस्वरूपको जानता हुआ भी, जो पुनः रागद्वेषको या भ्रम को प्राप्त होता है उसका कारण वहिरात्मावस्थामें शरीरादिकमें जो आत्मतत्त्व का भ्रम किया था उससे चल रहा यह संस्कार कारण है। अतः आत्मार्थी पुरुषको चाहिये कि आत्मस्वरूपका ज्ञान होने पर भी इस आत्मस्वरूपकी भावना का अभ्यास बढ़ाते रहना चाहिये।

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः॥ ४६॥

अन्वय—इदं दृश्यं अचेतनं, चेतन अदृश्यं ततः क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि अतः अहं मध्यस्थः भवामि।

अर्थ—यह दृश्यमान सब अचेतन है, चेतन अदृश्य है इस कारण मैं कहाँ तो (किसमें) रोष करूं और किसमें संतोष करूं ? इसी कारण मैं तो मध्यस्थ होता हूं।

तात्पर्य—पुनः उत्पन्न हुए भ्रमको या राग द्वेषको कैसे दूर किया जाय इसका उपायरूप विचार इस श्लोकमें बताया है। इन्द्रियोंसे दिखने वाला यह शरीरादिक तो अचेतन है वह तो कुछ समझता ही नहीं है और जो पदार्थ समझने वाले याने चेतन हैं वे अदृश्य हैं वे रोष-तोषके विषय नहीं हो सकते। अब मैं किस पर रोष (द्वेष) करूं और किस पर तोष (राग) करूं, क्योंकि रोष तोषका विषयभूत कोई हो ही नहीं सकता। इस कारण मैं तो मध्यस्थ होता हूं। ऐसे भावसे राग, द्वेष, भ्रम सब दूर हो जाते हैं।

त्यागादाने वहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्वहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः॥ ४७॥

अन्वय—मूढः वहिः त्यागादाने करोति, आत्मवित् अध्यात्मं त्यागादाने करोति। निष्ठितात्मनः न अन्तः उपादानं त्यागः, न वहिः उपादानं त्यागः।

अर्थ—मोही जीव बाहरमें त्याग व ग्रहण करता है, आत्मज्ञानी जीव

आन्तरिक त्याग व ग्रहण करता है किन्तु निष्ठितात्माके न तो अन्तः उपादान व त्याग है और न बाह्यमें उपादान व त्याग है।

तात्पर्य—मोही जीव तो जिस बाह्य वस्तुको विषयबाधक जानता है उसमें द्वेष करता है सो उसमें राग न होनेके कारण उसका त्याग करता है और विषयसाधक वस्तुओंका रागके कारण ग्रहण करता है। अथवा धर्मकी धुनवाला मोही जीव जिस वस्तुको नरक निगोदका कारण सुन रक्खा है उसका त्याग करता है व जिस वस्तुको स्वयं मोक्षका साधक सुन रक्खा है उसका ग्रहण करता है। अन्तरात्मा आत्मामें उठे राग द्वेष विभावोंका व अन्तर्जल्पविकल्पोंका त्याग करता है तथा ज्ञानभावको स्वीकार करता है। कृतकृत्य आत्माओंके अन्तर्बाह्य कहीं भी न त्याग है न ग्रहण है। अब अपने त्याग ग्रहणकी वृत्तिको देखो और जो उसमें त्रुटि हो उसको दूर करो।

युञ्जीत मनसात्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम् ॥ ४८ ॥

अन्वय—आत्मानं मनसा युञ्जीत, वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्, तु वाक्काययोजितं व्यवहारं मनसा त्यजेत्।

अर्थ—आत्माको मनसे युक्त करे, वचन और कायसे आत्माको पृथक करे फिर वचन कायसे योजित व्यवहारको भी मनसे त्याग कर देवे।

तात्पर्य—वचन और काय तो जड़रूप ही हैं, मन (भावमन) चेतनका ही एक परिणमन है सो उस मानसज्ञानसे आत्माको जोड़े, किन्तु वचन और शरीरसे तो आत्माको बिलकुल ही पृथक समझ ले। फिर, वचन व कायसे सम्पादित किए हुए व्यवहारको भी मनके साथ बिलकुल छोड़ देवे अर्थात् मन-वचन-कायके सब परिणमनोंसे उपेक्षा करके ज्ञानानन्दमय आत्मस्वरूपका ही अनुभव करे।

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव वा।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ॥ ४९ ॥

अन्वय—देहात्मदृष्टीनां जगत् विश्वास्यं वा रम्यं एव। तु स्वात्मनि एव

आत्मदृष्टीनां क्व विश्वासः वा क्व रतिः ।

अर्थ—देहमें आत्माकी दृष्टि रखनेवाले मोही जीवोंको यह जगत् विश्वास्य है और रमणीय है, किन्तु अपने आत्मामें ही आत्मदृष्टि करनेवाले आत्माओंको यहां कहां तो विश्वास हो और कहां प्रीति हो ?

तात्पर्य—शरीरको ही जीव समझनेवाले अज्ञानी जीवोंको तो स्त्री पुत्र वैभव आदिकमें यह हितकारी है, धोखा देनेवाला नहीं है, सुन्दर है ऐसी प्रतीति होती है, क्योंकि देहका पोषण विषयों का साधन इन वाह्य साधनोंसे कर रहा है। किन्तु, जिन्होंने ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्मामें ही आत्मबुद्धि की है उन्हें तो आनन्दका स्रोत आनन्दमय स्वात्मा ज्ञात हो चुका है अब वे कैसे परसे हित व परकी सुन्दरताका भ्रम कर सकेंगे। सो परका लगाव मानेका महासंकट आत्मज्ञानसे ही मिलता है, ऐसा जानकर आत्मस्वरूपके दर्शनमें संवेदनमें रमण में यत्न करना चाहिये ।

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।
कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥ ५० ॥

अन्वय—आत्मज्ञानात् परं कार्यं बुद्धौ चिरं न धारयेत् । अर्थवशात् किञ्चित् वाक्कायाभ्यां अतत्परः सन् कुर्यात् ।

अर्थ—आत्मज्ञानसे अन्य कार्यको बुद्धिमें अधिक समय तक धारण न करे। प्रयोजनवश कुछ करे तो वचनकायसे अतत्पर होकर करे।

तात्पर्य—किसी ज्ञानी पुरुषकी ऐसी भी स्थिति होती है कि आत्मज्ञानमें रत होनेका लक्ष्य तो पूर्ण है और उसका यत्न भी करते हैं फिर भी पूर्वबद्ध कर्मविपाकवश कुछ व्यवहारमें भी प्रवृत्त होना पड़ता है ऐसे ज्ञानीके प्रति कहा जा रहा है कि ज्ञानी आत्मज्ञानको छोड़कर अन्य उपयोगमें भी धारण न करे। कदाचित् बुद्धिमें लेना भी पड़े तो अधिक समय अन्य कार्यको बुद्धिमें न धारण करे तथा कदाचित् अन्य कार्यकरना भी पड़े तो वचनसे व कायसे अतत्पर होकर, लीन न होकर प्रयोजनवश कुछ करे, किन्तु शीघ्र ही उससे हटकर फिर आत्मज्ञानमें उपयुक्त हो जाये ।

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः ।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥ ५१ ॥

अन्वय—इन्द्रियैः अहम् यत् पश्यामि तत् मे नास्ति । नियतेन्द्रियः सन् अन्तः सानन्दं पश्यामि तत् मे अस्तु ।

अर्थ—इन्द्रियोंके द्वारा मैं जो देखता हूँ वह मेरा नहीं है। इन्द्रियोंको संयत करता हुआ अन्तरङ्गमें जिस आनन्दमय ज्ञानप्रकाशको देखता हूँ वह मेरे इष्ट हो।

तात्पर्य—इन्द्रियोंके द्वारा मैं शरीरको देखता हूं सो यह मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप क्या है ? यह तब ज्ञात होता है जब इन इन्द्रियोंके व्यापारको रोक दूं और परमविश्रामसे अन्तङ्गमें उन्मुख रहूं। ऐसी स्थितिमें परम निर्मलता होगी उसे सहज आनन्दका अनुभव होगा, उस सहज आनन्दके अनुभवको जगाता हुआ जो ज्ञानप्रकाश देखूंगा वह मेरा स्वरूप है। मेरा यही स्वरूप उपयोगमें बना रहे।

सुखमारब्ध योगस्य बहिर्दु:खमथात्मनि ॥
बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनि ॥ ५२ ॥

अन्वय—आरब्धयोगस्य बहिः सुखं अथ आत्मनि दुःख भवति, भावितात्मनि बहिः एव असुख अध्यात्मं सौख्यं भवति।

अर्थ—आरम्भ किया है योग जिसने ऐसे पुरुषको बाह्य विषयोंमें तो सुख प्रतीत होता है और आत्मस्वरूपमें दुःख प्रतीत होता है, किन्तु भावितात्माको बाह्यमें दुःख और अध्यात्ममें सुख होता है।

तात्पर्य—जो जीव पहिले ही पहिले आत्मस्वरूपकी भावनामें उद्यम कर रहा है उसको बाह्य विषयोंमें लगनेमें सुख जँचता है और आत्मस्वरूपमें लगनेमें दुःख प्रतीत होता है। किन्तु यथार्थ जानकर निज आत्मस्वरूपमें लगनेका जिन्होंने अभ्यास कर लिया है उन्हें बाह्य विषयोंके प्रसङ्गमें क्लेश मालूम देता है और अपने आत्मामें रमनेमें सुख होता है। इसलिये हे सुखार्थि पुरुषो ! आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके उद्यम में साहस करो, खेद न मानकर आत्मभावनाके

अभ्यासमें यत्न करो। इस यत्नसे आखिर सत्य शाश्वत आत्मीय आनन्द प्राप्त होगा।

तद् ब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत् तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥ ५३ ॥

अन्वय—तत् ब्रूयात् तत् परान् पृच्छेत् तत् इच्छेत् तत्परः भवेत् येन अविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्।

अर्थ—उस आत्मस्वरूपको कहे, उसको ही दूसरोंको पूछे, उसको ही चाहे, उससे ही तत्पर होवे जिससे अविद्यामय रूपको छोड़कर यह आत्मा विद्यामयरूपको प्राप्त होवे।

तात्पर्य—ज्ञानानन्दात्मक आत्मस्वरूपकी दृष्टि करनेसे ही आत्मा अज्ञानमय, क्लेशमय अवस्थाको छोड़कर ज्ञानमय परमानन्दमय अवस्थाको प्राप्त करता है। इस कारण शाश्वत आनन्दके चाहनेवाले भव्य पुरुषो! दूसरोंको इस ही आत्मस्वरूपका प्रतिपादन करो, जिन्होंने आत्मस्वरूपको जाना है उनसे इस ही आत्मस्वरूपको पूछो, इस ही परमार्थस्वरूप आत्मतत्त्वकी रुचि करो और इस ही आत्मस्वरूपकी भावनामें आदर करके मग्न रहो।

शरीरे वाचि चात्मानं संधत्ते वाक्शरीरयोः।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषां निबुध्यते ॥ ५४ ॥

अन्वय—वाक्शरीरयोः भ्रान्तः शरीरे च वाचि आत्मानं संधत्ते पुनः अभ्रान्तः ऐषां तत्त्वं पृथक निबुध्यते।

अर्थ—वचन और शरीरमें आत्माका भ्रम करनेवाला जीव वचन और शरीरमें आत्माको आरोपित करता है तथा वचन और शरीरमें आत्मस्वरूपका भ्रम न करनेवाला ज्ञानी इन दोनोंका स्वरूप पृथक जानता है।

तात्पर्य—शरीर ही मैं हूं, वचन ही मैं हूं ऐसे वचन और शरीरमें आत्मस्वरूपका जिसे भ्रम है वह वचन और शरीरको ही आत्मा अर्थात् अपनेको मानता है। किन्तु जिसने वचनकायका यथार्थ स्वरूप जान लिया है, ये भाषावर्गणा व आहारवर्गणाके पुद्गल स्कन्धों के प्रचय हैं ऐसा मान लिया

है वह शरीर और वचनका स्वरूप अपनेसे अत्यन्त भिन्न है ऐसा निश्चय करता है। हे कल्याणार्थी जनो! जब शरीर और वचनसे अपना आत्मा पृथक है तब शरीर-वचनकी बातों में लगनेसे क्या सिद्धि है? अतः अपने आत्मस्वरूप की ही बात कहो, पूछो, इसकी ही धुनिमें रहो।

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत्क्षेमंकरमात्मनः।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥ ५५ ॥

अन्वय—इन्द्रियार्थेषु तत् न अस्ति यत् आत्मनः क्षेमङ्करः स्यात्। तथापि बालः अज्ञानभावनात् तत्र एव रमते।

अर्थ—इन्द्रियोंके विषयोंमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो आत्माका भला करनेवाला होवे। तो भी, यह बहिरात्मा अज्ञानसंस्कारके कारण उन ही इन्द्रियविषयोंमें रमण करता है।

तात्पर्य—यद्यपि किसी भी इन्द्रियका विषय आत्माका कल्याण करने वाला नहीं है, कल्याणकी बात तो दूर रही आपत्तिमें ही डालनेवाला है तो भी चूंकि इस मोही जीवने अपनेको रागादिक अज्ञानरूपसे भी भाकर मिथ्यात्वका संस्कार बना लिया है इस कारण उनही इन्द्रियोंके विषयोंमें स्पर्श, रस, गन्ध, रूप व शब्दोंमें रति करता है। इस विषयविपदासे बचना चाहते हो तो इसका मूल उपाय यह करना होगा कि अपनेको "शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र हूं" भावना दृढ करके अज्ञानसंस्कारको नष्ट कर दें।

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥ ५६ ॥

अन्वय—मूढात्मानः तमसि कुयोनिषु चिरं सुषुप्ताः अनात्मीयात्मभूतेषु मम अहं इति जाग्रति।

अर्थ—मूढ जीव अज्ञानान्धकारवश खोटी योनियोंमें सुषुप्त हैं अथवा अनात्मीय भूतपदार्थोंमें यह मैं हूँ इस प्रकारसे जागते हैं।

तात्पर्य—यह जीव अनादिसे तो अज्ञानमिथ्यात्वमें बसकर, निगोद रहा फिर अन्य स्थावर कीड़े पतंगे आदि असञ्ज्ञीपर्यायोंको पाया तो वहाँ भी अज्ञान

घोर अन्धकारवश उन कुयोनियोंमें बसा। निगोदसे लेकर असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक तो यह जीव सोया हुआ ही रहा है अर्थात् विचाररहित, अज्ञानग्रस्त रहा है। अब कदाचित् संज्ञीपर्यायमें आया तो यहाँ जो शरीरादिक अपना नहीं है उसमें यह मैं हूँ ऐसी बुद्धि करके जाग रहा है याने विपरीत बुद्धि कर रहा है। मिथ्यात्वकी इन दोनों स्थितियोंमें कल्याण नहीं है।

पश्येन्निरन्तरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा।
अपरात्मधियान्येषामात्मतत्त्वे व्यवस्थितः॥ ५७॥

अन्वय—आत्मतत्त्वे व्यवस्थितः सन् आत्मनः देहं अनात्मचेतसा पश्येत्, अन्येषां अपरात्मधिया पश्येत्।

अर्थ—आत्मतत्त्वमें स्थित होता हुआ अन्तरात्मा अपने शरीरको अनात्मबुद्धिसे देखे और अन्य जीवोंके शरीरको यह इन प्राणियोंका नहीं, इस बुद्धिसे देखे।

तात्पर्य—जो संत आत्मस्वरूपमें स्थित होकर आत्मस्वरूपके अनुभवपूर्वक आत्मतत्त्वका परिचयी हुआ है वह अपने आत्माके एक क्षेत्रावगाह बन्धनमें प्राप्त इस शरीरको यह मैं हूँ ऐसी आत्मबुद्धिसे नहीं देखता है और दूसरे प्राणियोंके शरीरोंको ये आत्मा हैं या दूसरे आत्मा हैं यों अपरात्मबुद्धिसे नहीं देखता है। वह ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मामें ही आत्मतत्त्वकी श्रद्धा करता है।

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः॥ ५८॥

अन्वय—मूढात्मानः यथा अज्ञापित मां न जानन्ति तथा ज्ञापितं अपि न जानन्ति ततः तेषां मे ज्ञापनश्रमः वृथा।

अर्थ—मोही जीव जैसे बिना बताये गये मुझको नहीं जानते हैं वैसे बताये गयेको भी नहीं जानते हैं। इस कारण उन मूढ जीवोंको मेरा समझाने का परिश्रम व्यर्थ है।

तात्पर्य—आत्मस्वरूपके न जाननेवाले मूढ जनोंको समझानेका परिश्रम क्यों नहीं किया जाता है? इस आशङ्काका एक उत्तर इस श्लोकमें है कि मोहमें

अतिग्रस्त ये प्राणी जैसे अभी न समझाये जानेपर आत्मस्वरूपको नहीं जानते हैं वैसे समझाये जानेपर भी तो नहीं जान पाते हैं। इस कारण मूढ आत्माओंके लिए मेरा समझानेका प्रयास निष्फल है। यहाँ ऐसा चिन्तन करनेवाला आत्म-निष्ठताका रुचिया है और जिसके प्रति कहा जा रहा है वह महामोहसे ग्रस्त प्राणी है ऐसे प्राणीको समझानेका परिश्रम उठानेका कषायभाव आत्मरुचिक ज्ञानीके नहीं होता है।

तद् बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये॥ ५६॥

अन्वय—तद् बोधयितुमिच्छामि तत् अहं न। पुनः यत् अहं तत् अन्यस्य ग्राह्यं अपि न। तत् अन्यस्य किं बोधये।

अर्थ—जिस स्वरूपको समझानेकी इच्छा करता हूं वह तो मैं नहीं हूं और जो मैं हूं वह अन्य जीवके द्वारा ग्राह्य भी नहीं है फिर दूसरे जीवको मैं क्या समझाऊँ ?

तात्पर्य—मैं जिन मैं याने आत्मस्वरूपको बताना चाहूंगा वह बताये जातेके विकल्पमें पूर्ण अभेदरूप ठहरा हुआ नहीं और जो परमार्थभूत चित् प्रकाशमात्र अभेदस्वरूप आत्मतत्त्व मैं हूं वह दूसरे जीवोंके द्वारा ग्राह्य नहीं है। दूसरे जीव तो स्वयं निर्विकल्प होकर अभेदस्वसंवेदन द्वारा अपनेको प्रतिभा लेंगे तो उनके द्वारा वे ही सहज स्वयं अनुभवमें आ सकेंगे। इस समझानेकी प्रक्रियामें तो ये इस परमार्थको परमार्थसे ग्रहण कर नहीं सकते। फिर मैं दूसरे को क्या समझाऊं ? यहाँ ज्ञानीकी स्वरूप सम्बन्ध में उच्च पैनी दृष्टि है। उस दृष्टिको लेकर यह प्रकरण समझना है।

वहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा वहिर्व्यावृत्तकौतुकः॥ ६०॥

अन्वय—अन्तरे पिहितज्योतिः मूढात्मा वहिः तुष्यति, वहिर्व्यावृत्त-कौतुकः प्रबुद्धात्मा अन्तः तुष्यति।

अर्थ—अन्तरङ्गमें तिरोहित हो रही है ज्ञानज्योति जिसकी ऐसा मूढ

आत्मा बाह्य पदार्थोंमें संतुष्ट होता है और बाह्य पदार्थोंसे जिसका कौतुक हट गया है ऐसा प्रबुद्ध आत्मा स्वरूपमें संतुष्ट होता है।

तात्पर्य—जिसका ज्ञान महान् मोहसे तिरोभूत हो गया है ऐसा पर्याय-बुद्धि मूढ जीव तो चूंकि उसे सारभूत सुखसाधन शरीरादिक बाह्य पदार्थ ही दिखते हैं इस कारण शरीरादिक पदार्थों के पुष्ट होनेमें संतोष करना है। किन्तु जिसका ज्ञान मोहसे तिरोहित नहीं है यथार्थ स्वरूपका प्रबोध जग गया हो वह चूंकि आत्मानुभूतिज सहज आनन्द का अनुभव कर चुकनेसे शरीरादिक बाह्य पदार्थोंसे अनुराग हट गया है इस कारण चिदानन्दस्वरूप निज ज्योतिके दर्शन में आश्रयमें सन्तोष करता है। कल्याणार्थी पुरुषको उत्तम आनन्दमय विकास पानेके लिये अन्तःस्वरूपका श्रद्धान व अनुष्ठान करना चाहिये यह शिक्षा इस वर्णनसे ग्रहण करनी चाहिये।

न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैवकुर्वते ॥६१॥

अन्वय—शरीराणि सुखदुःखानि न जानन्ति तथापि अबुद्धयः अत्र एव निग्रहानुग्रहधियं कुर्वते।

अर्थ—शरीर सुख दुःखोंको नहीं जानते हैं तो भी अज्ञानी जन इस शरीरमें निग्रह और अनुग्रहकी बुद्धिको करते हैं।

तात्पर्य—अज्ञानी जन रागवश होकर इस शरीरको नाना आभूषणोंसे सजाते हैं, नाना भोगके साधनोंमें लगाते हैं किन्तु यह शरीर तो जानता ही नहीं यह क्या खुश होगा, ऐसा अज्ञानी जनोंको प्रबोध नहीं जगता। कभी गुस्सा आ गया तो इस शरीरको भोजन न दें तो या पीटने लगें तो अज्ञानीके यह प्रबोध नहीं होता है कि शरीर तो कुछ जानता ही नहीं है फिर दण्ड कैसे मानेगा यह। सो शरीर सुख दुःखको जानता नहीं है फिर भी अज्ञानी जन इस शरीरपर निग्रह और अनुग्रह करनेकी बुद्धि करते हैं। यह यहाँ शिक्षा मिलती है कि जड़ शरीरपर कुछ न आजमावो अपने विकल्पपर निग्रह करो और सहज आत्मस्वरूपके विकास करनेका अनुग्रह करो।

स्वबुद्ध्या यावद् गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम् ।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥ ६२ ॥

अन्वय—कायवाक्चेतसां त्रयं यावत् गृह्णीयात् तावत् संसारः तु एतेषां भेदाभ्यासे निर्वृतिः ।

अर्थ—शरीर, वचन, मन इन तीनोंको जितना ग्रहण करे उतना संसार है, किन्तु इनके भेदका अभ्यास होनेपर निवृत्ति होती है।

तात्पर्य—यह प्राणी शरीर, वचन, मनको यह मैं हूं ऐसा आत्मबुद्धिसे जितना स्वीकार करता है उतना उसका संसार है और जब शरीर, वचन, मन ये मेरे आत्मासे भिन्न हैं ऐसा भेदविज्ञानका अभ्यास हो चुकता है और उनसे भिन्न चिदानन्दस्वरूपमात्र आत्माका अनुभव कर लेता है तब इस आत्माका निर्वाण होता है । अतः कल्याणार्थी पुरुषका कर्त्तव्य है कि अपनेको शरीर, वचन, मनसे भिन्न ज्ञानानन्दमात्र अनुभव करे ।

घने वस्त्रे यथात्मानं न घनं मन्यते तथा ।
घने स्वदेहेप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥ ६३ ॥

अन्वय—यथा बुधः घने वस्त्रे आत्मानं घनं न मन्यते तथा स्वदेहे अपि घने बुधः आत्मानं घनं न मन्यते ।

अर्थ—जैसे बुद्धिमान् पुरुष मोटे वस्त्रके पहिने जानेपर अपनेको मोटा नहीं मानता है वैसे ही अपने देहके मजबूत होनेपर, मोटे होनेपर अपने आत्मा को मोटा, स्थूल नहीं मानता है ।

तात्पर्य—जैसे लोकमें चतुर पुरुष मोटे वस्त्र पहिननेपर अपनेको मोटा नहीं मानता है, क्योंकि उसके प्रतीति किये तो मोटे कपड़े ही हैं यह मैं (जैसे शरीरके रूपमें अपनेको पाता है) तो इतना ही हूं, इसी प्रकार अलौकिक ज्ञानी पुरुष किसी स्थूल शरीरमें हो तो यह नहीं मानता है कि मैं स्थूल हूं, क्योंकि उसके प्रतीति है कि यह शरीर तो पुद्गल स्कन्धोंका प्रचय है और जड़ है मैं तो शरीरसे अत्यन्त अधिक चेतन द्रव्य हूं वह भेदप्रतिभास आत्मदर्शनका कारण है ।

जीर्णे वस्त्रे यथात्मानं नर्णं जी मन्येत तथा।

जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ।। ६४ ।।

अन्वय—यथा वस्त्रे जीर्णे बुधः आत्मानं न मन्यते तथा स्वदेहे जीर्णे अपि बुधः आत्मान जीर्णं न मन्यते।

अर्थ—जैसे वस्त्रके जीर्ण हो जानेपर बुद्धिमान पुरुष अपनेको जीर्ण नहीं मानता है उसी प्रकार अपने देहके जीर्ण हो जानेपर भी अलौकिक ज्ञानी पुरुष आत्माको जीर्ण नहीं मानता है।

तात्पर्य – लोकमें जैसे कोई पुराना झीना वस्त्र पहिने हो तो वह अपने को (जैसा शरीररूप देखकर कहा जावे) पुराना झीना नहीं मानता है। इसी प्रकार इस शरीरके पुराने, झीने बूढ़े हो जानेपर भी इस देहमें स्थित निज आत्माको पुराना, झीना, बूढ़ा नहीं मानता है। यद्यपि यह आत्मा अनादि सत् होनेसे पुराना है, किन्तु फटे मैले शरीर जैसा पुराना बना हुआ नहीं है। शरीर से आत्माको ऐसा भेदप्रतिप्त मेंलेना आत्मदर्शनका उपाय है।

नष्टे वस्त्र यथात्मानं न नष्टं मन्यते यथा।

नष्टे स्वदेहेप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ।। ६५ ।।

अन्वय—यथा वस्त्रे नष्टे बुधः आत्मान नष्ट न मन्यते तथा स्वदेहे नष्टे अपि बुधः आत्मानं नष्ट न मन्यते।

अर्थ—जैसे पहिने गये वस्त्रके नष्ट हो जानेपर बुद्धिमान लोग अपनेको नष्ट नहीं मानता है। इसी प्रकार अपने देहके नष्ट होनेपर भी आत्मज्ञानी पुरुष अपने आत्माको नष्ट हुआ नहीं मानते हैं।

तात्पर्य—जैसे चतुर पुरुष वस्त्रके जल जानेपर, फट जानेपर, नष्ट हो जानेपर अपनेको जला, फटा, नष्ट नहीं मानते हैं, उसी प्रकार आत्मज्ञानी पुरुष जिस देहमें रह रहा है उस देहके नष्ट हो जानेपर भी अपने आत्माको नष्ट नहीं मानता है। वह तो आत्माको अविनाशी, ज्ञानानन्दस्वरूप अनुभवमें लेता है। जो अत्यन्त निकटका पदार्थ है ऐसे देहसे भी भिन्न आत्मा लक्ष्यमें आये तो अन्य परविषयक विकल्प सुगम ही समाप्त हो जाते हैं। यह भेदप्रतिभास आत्मदर्शन का उपाय है।

रक्ते वस्त्रे यथात्मानं न रक्तं मन्यते यथा ।

रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥ ६६ ॥

अन्वय—यथा रक्ते वस्त्रे बुधः आत्मानं रक्तं न मन्यते तथा स्वदेहे रक्ते अपि बुधः आत्मानं रक्तं न मन्यते ।

अर्थ—जैसे लाल वस्त्रके पहिननेपर चतुर लोक अपनेको लाल नहीं मानता है, उसी प्रकार अपने देहके लाल हो जानेपर भी आत्मज्ञानी पुरुष अपनेको लाल नहीं मानता है ।

तात्पर्य—जैसे कोई पुरुष लाल रँगे हुए वस्त्रको पहिने हुएमें अपनेको लाल होगया नहीं मानता है । इसी प्रकार जिस देहमें यह ज्ञानी आत्मा स्थित है उस देहके पुष्पादिकसे रङ्गसे या अन्य रङ्गसे लाल किये जानेपर भी या चढ़ती अवस्थाके कारण विशिष्ट खान-पान, व्यायाम आदिके कारण शरीर लाल पुष्ट हो जानेपर भी अपने आत्माको लाल नहीं मानता है । वह तो अपने आपको अमूर्तिक, ज्ञानानन्दघन ही अनुभवता है । शरीर आत्मा का यह भेद-प्रतिभास आत्मस्वरूपके अनुभव का उपाय है अतः कल्याणार्थी पुरुषोंको प्रथम ही स्वरूपबोध करके भेदविज्ञान कर लेना चाहिये ।

यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत् ।

अप्रज्ञमक्रिय भोगं स शमं याति नेतरः ॥ ६७ ॥

अन्वय—यस्य सस्पन्दं जगत् निःस्पन्देन समं अप्रज्ञं अक्रियाभोग आभाति सः अक्रियाभोग शमं याति इतरः न ।

अर्थ—जिस आत्माको यह सचेष्ट जगत निश्चेष्ट काष्ठादिके तुल्य अचेतन और क्रियाभोगरहित प्रतिभात होता है वह आत्मा क्रियाभोगरहित शान्तिमय भावको प्राप्त करता है, अन्य कोई पुरुष प्राप्त नहीं कर सकता ।

तात्पर्य—यह शरीरादिकरूप जगत् चलना, फिरना, दौड़ना, खाना, खेलना आदि नाना चेष्टारूप हो रहा है ऐसा सचेष्ट भी जगत् अमूर्तिक निष्क्रिय-चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वके अनुभव हो जानेके कारण ज्ञानी पुरुष को चेतना-रहित, जड़ व चेष्टारहित प्रतीत हो जाता है, क्योंकि दृश्यमान जो कुछ है वह

रूप पुद्गल तो है ही उसमें चेतना तो है ही नहीं और चलने आदि चेष्टावोंका निमित्त कारणभूत यह आत्मा उस ज्ञानीकी दृष्टिमें इस दृश्यमान पदार्थसे भिन्न हो गया है और निष्क्रिय अमूर्तरूपमें संविदित हो गया है। ऐसे ज्ञानी पुरुष ही शान्तभावको प्राप्त करते हैं अन्य जन अर्थात् दृश्यमान पदार्थके ही विश्वासी जन शान्तिको प्राप्त नहीं कर सकते। जहां संसार देह भोगोंमें राग न रहे, मन वचन कायका व्यापार न रहे इन्द्रियोंके विषयोंका अनुभवन न रहे और अलौकिक स्वाधीन निराकुलतारूप आनन्द झरता रहे, उस भावको शान्तिभाव कहते हैं। इस शान्तिभावकी प्राप्तिके लिये भव्य पुरुषोंको अमूर्त निष्क्रिय ज्ञायक स्वभावकी दृष्टि पुष्ट करना चाहिये।

शरीरकञ्चुकेनात्मा संवृत्तज्ञानविग्रहः।

नात्मानं बुध्यते तस्माद् भ्रमत्यातिचिरं भवे ।। ६८ ।।

अन्वय—शरीरकञ्चुकेन संवृत्तज्ञानविग्रहः आत्मा आत्मान न बुध्यते तस्मात् भवे अतिचिरं भ्रमति।

अर्थ—कार्मणशरीररूपी कांचलीसे तिरोहित हो गया है ज्ञानरूपी शरीर जिसका ऐसा यह आत्मा अपने आत्मस्वरूपको नहीं जानता है इस कारण संसारमें चिरकाल तक परिभ्रमण करता है।

तात्पर्य—जैसे कांचलीसे जिसका शरीर ढका है ऐसा सर्प अपने शरीर के असली स्वरूपको नहीं देख सकता है। इसी प्रकार कार्माण शरीर के उदयके निमित्तसे जिसका ज्ञान तिरोहित हो गया है ऐसा यह आत्मा अपने आनन्दमय ज्ञानघन स्वरूपको नहीं जान पाता है। इसी कारण परमें अपना आनन्द व ज्ञान माननेसे परकी ओर इस अज्ञानीका झुकाव हो जाता है। इस परोन्मुखता के कारण जीवको संसार में चिरकाल तक क्लेश भोगते हुए जन्म-मरणके परिभ्रमण करना पड़ता है। इस संसारभ्रमणके न चाहनेवाले पुरुषोंको स्वरूपबोध का अभ्यास करना चाहिये। इसके निमित्तसे आवरक द्रव्यकर्मोंकी निर्जरा हो जाती है और आत्मविकास हो जाता है।

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ।

स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः ।। ६९ ।।

अन्वय—अबुद्धय: अविशद्गलतां व्यूहे समाकृतौ देहे स्थितिभ्रान्त्यात आत्मान प्रद्यन्ते ।

अर्थ—अज्ञानी जीव प्रवेश करते हुए और गलते हुए अणुओंके समूहरूप और समान आकृतिवाले देहमें स्थिरताकी भ्रान्ति करके उसको ही आत्मा मान लेते हैं ।

तात्पर्य—यह शरीर पुद्गलाणुवोंका समूह है इसमें अनेकों अणुवोंका प्रवेश होता रहता है और अनेकों अणु इससे अलग होते रहते हैं ऐसा यह अनेक अणुवों का समूह है इसमें इस अज्ञानी जीवको यह मैं आत्मा हूं और यह सदा रहेगा ऐसी भ्रान्ति हो गई है । इस भ्रान्ति के होनेका कारण यह है कि इसमें अणुवोंका बराबर आना बना रहता है इससे यह शरीर समान आकृतिका दिखता है अर्थात् जैसा पहिले था वैसा ही अब है यों प्रतीत होता है साथ ही यह शरीर आत्माके एक क्षेत्रावगाही है आत्माके फैले बराबर क्षेत्रोमें फैला है सो इस देहमें आत्माकी भ्रान्ति हो जाने से यह अज्ञानी जीव इसको ही आत्मा मानते हैं । मुमुक्षु जीवोंको ऐसे एकक्षेत्रावगाहरूप बन्धनके होनेपर भी देहसे भिन्न आत्माका संवेदन करना चाहिये ।

गौर: स्थूल: कृशो वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन् ।
आत्मानं धारयेन्नित्य केवलज्ञप्तिविग्रहम् ।। ७० ।।

अन्वय—अहम् गौर:, स्थूल वा कृश: इति अङ्गेन आत्मानं अविशेषयन् आत्मानं केवलज्ञप्तिविग्रह नित्यं धारयेत् ।

अर्थ—मैं गौर हूँ, स्थूल हूँ अथवा कृश हूँ इस प्रकार शरीरके साथ आत्माको एकरूप न करते हुए अपने आत्माको केवल ज्ञान ही है शरीर जिसका इसरूपसे नित्य धारण करे याने प्रतीति करे ।

तात्पर्य—अज्ञान अवस्थामें यह जीव शरीरको ही आपा मानता है । इस कारण शरीरकी गोरी, मोटी, दुबली अवस्थाकों अपनी अवस्था मानकर ऐसा प्रतीत करता है कि मैं गौरा हूं, मोटा हूं, दुबला हूं इत्यादि किन्तु शरीर तो पुद्गल है पुद्गलकी अवस्था आत्माकी कैसे हो सकती है ? इस कारण हे कल्याणार्थी पुरुषो ! शरीरके साथ आत्माको एकरूप न सोचो और अपने

आपको केवल ज्ञानमय जानो, मानो व अनुभव करो।

मुक्तिरैकान्तिकी तस्य चित्त यस्याचला धृतिः।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः ॥ ७१ ॥

अन्वय—यस्य चित्ते अचला धृतिः तस्य मुक्ति ऐकान्तिकी अस्ति। यस्य अचला धृतिः नास्ति तस्य मुक्तिः ऐकान्तिकी न।

अर्थ—जिसके चित्तमें अविचल आत्मस्वरूपका धारण है उसकी मुक्ति नियमसे होनेवाली है। जिसके आत्मस्वरूपका धारण नहीं है उसकी मुक्ति किसी प्रकार भी नहीं है।

तात्पर्य—जिसके उपयोगमें आत्मस्वरूपकी दृष्टि, प्रतीति, धारणा, धीरता, प्रसति है उसकी मुक्ति अवश्यम्भाविनी है। किन्तु जिसके उपयोगमें आत्मस्वरूपविषयक दृष्टि भी नहीं है न धारणा है उसकी मुक्त कैसे होगी ? इसकी मुक्ति न होनेका नियम है। भविष्यमें आत्मदृष्टि हो जाय तो आत्म-धारणा होनेपर वह प्रथमकोटिमें ही आगया तब मुक्ति हो जायगी। अतः हे भव्य पुरुषो ! संसार-संकटोंसे मुक्ति पानेके लिये आत्मस्वरूप के उन्मुख होओ।

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥ ७२ ॥

अन्वय—जनेभ्यः वाक् ततः मनसः स्पन्द तस्मात् चित्तविभ्रमाः भवन्ति ततः योगी जनैः संसर्गं त्यजेत्।

अर्थ—जनसंसर्गसे वचनप्रवृत्ति होती है, उससे मनकी व्यग्रता होती है, उससे चित्तमें विभ्रम होते हैं। इस कारण योगी पुरुष लोगोंके संसर्गको छोड़ देवे।

तात्पर्य—मनुष्योंसे समागममें रहनेपर वचनालाप करना होता है, वचनालापकी प्रवृत्ति होनेसे मनमें व्यग्रता होती है वचनालापमें अधिक बोल गये या प्रतिकूल बोल गये या अपनी प्रशंसा-सूचक शब्द बोल गये तो मनमें खेद होने लगता है, मन डाँवाडोल होने लगता है मनकी व्यग्रतासे चित्तमें विकल्प और क्षोभ बढ़ जाते हैं। इस कारण योगी महात्माओंको सर्व क्षोभका मूल

जनसंसर्गको जानकर जनसंसर्ग छोड़ देना चाहिये। एकान्तवासमें ध्यानको सिद्धि होगी और उससे स्वाधीन आनन्द प्रकट होगा।

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम् ।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ॥ ७३ ॥

अन्वय—अनात्मदर्शितां निवासः ग्रामः आरण्यम् इति द्वेधा, तु दृष्टात्मनां निवासः निश्चलः विविक्तात्मा एव।

अर्थ—अनात्मदर्शी जीवोंका निवासस्थान गांव व वन यों दो प्रकार का है, किन्तु आत्मदर्शी जीवोंका निवासस्थान अविचल विशुद्ध आत्मा ही है।

तात्पर्य—जिन्हें आत्मस्वरूपका अनुभवन नहीं हुआ है ऐसे लोगोंके यों विकल्प चलते हैं कि यह गांव है यह जंगल है इसमें हम रहते हैं। ऐसा अज्ञानी जीवोंको अपना आधार परक्षेत्र मालूम होता है, किन्तु जिन्होंने आत्मस्वरूपका अनुभव किया है ऐसे ज्ञानी संतोंको अपना निवासस्थान अपना आधार स्थान परसे प्रथक्, परभाव रहित, स्वरूपसे निश्चल अपना आत्मा ही संविदित होता है इस कारण योगीपुरुष बाहर कहीं रहे अन्तरङ्गमें तो आत्मामें ही रहता है। इससे यह प्रकट होता है कि कदाचित् ग्राममें अथवा जनसमाजमें भी रहना पड़े तो अन्तरङ्गमें तो अपने आपके स्वरूपमें ही उपयोग को बनाना चाहिये।

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥

अन्वय—अस्मिन् देहे आत्मभावना देहान्तरगतेः बीजम् आत्मनि एव आत्मभावना विदेहनिष्पत्तेः बीजम्।

अर्थ—इस शरीरमें आत्माकी भावना करना अन्य देहोंमें गमन करने का कारण है और आत्मामें ही आत्माकी भावना करना देहरहित अवस्थाके अर्थात् मुक्तिके पानेका कारण है।

तात्पर्य—यह आत्मा ऐसा प्रभु है कि अपनी जातीय भावना माफिक अपनी सृष्टि करता रहता है। जिसे शरीरमें रुचि होती है उसे शरीर मिलते रहते हैं अर्थात् मरकर नये शरीरमें जाना पड़ता है। जो शरीररहित चिदानंद

स्वरूप आत्माकी आत्मारूपसे भावना करता है वह शरीररहित बन जाता है। अर्थात् चाहे उसी भवसे या विशिष्ट पूर्वबद्ध कर्मोंका विपाक हो तो कुछ ही भव बाद विदेह अर्थात् मुक्त हो जाता है विदेह अवस्था में ही अनन्तगुणसमृद्धि है। अतः हितार्थी जनोंको चाहिये कि अपनेको देहरहित ज्ञानानन्दमय आत्मस्वरूपमें प्रतीत करें।

नयत्यात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव वा।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥ ७५ ॥

अन्वय—आत्मा एव आत्मानं जन्म नयति च निर्वाणं एव नयति। तस्मात् परमार्थतः आत्मनः गुरु आत्मा अस्ति अन्यः न।

अर्थ—आत्मा ही आत्माको जन्मको अर्थात् संसारको प्राप्त कराता है और निर्वाण को प्राप्त कराता है। इस कारण परमार्थसे आत्माका गुरु आत्मा ही है अन्य कोई नहीं।

तात्पर्य—प्रत्येक पदार्थ अपने आपको ही परिणमा सकता है किसी रूप परिणमाये। परकी ओर अभिमुख होता है तब जन्मकी परिपाटी करता है, संसार बढ़ाता है और सम्यक् ज्ञान के बलसे बाह्य पदार्थोंसे हटकर निज सहज स्वरूपके सम्यक श्रद्धान ज्ञान आचरणमें इसकी वृत्ति होती हैं तो निर्वाण होता है। सो यह ही जीव अपनी वृत्तिसे निर्वाणका यत्न करता है और मुक्त हो जाता है। इस कारण परमार्थसे आत्माका यह आत्मा ही गुरु है। अतः हे भव्य पुरुषो! सर्व प्रयत्नपूर्वक इस विविक्त आत्मगुरुकी शरण प्राप्त करो।

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद् भृशम् ॥ ७६ ॥

अन्वय—देहादौ दृढात्मबुद्धिः आत्मनः नाशं च मित्रादिभिः वियोगं उत्पश्यन् मरणाद् भृशं बिभेति।

अर्थ—शरीरादिकमें दृढ है आत्मा माननेकी बुद्धि जिसके ऐसा अज्ञानी जीव शरीरके वियोग समयमें अपना नाश और मित्रादि जनोंका वियोग देखता हुआ मरणसे बहुत डरता है।

तात्पर्य—जो शरीरको अपना आपा समझता है ऐसे प्राणीकी आत्मा का जब शरीरसे वियोग होता है तब यह समझता है कि मैं नष्टहोने वाला हूँ तथा अब मेरा कुटुम्ब, मित्रमण्डल सभी छूटा जा रहा है, ऐसीकल्पना बढ़ाकर यह मरणमे बहुत अधिक डरता है और संक्लेश परिणामोंसे मरण करता है। किन्तु, ज्ञानी जीव मरणसे भय नहीं करता है क्योंकि वह जानता हैं कि जैसे कोई पुरुष फूटे घरसे निकलकर नवीन भवनमें प्रवेश करता है ऐसे ही यह जीव पुराने शरीर से निकलकर नवीन शरीरमें प्रवेश करने जाता है तथा ज्ञानी जानता है कि जो मेरा तत्व है वह कभी छूटता नहीं, जो मेरा नहीं वह न अब मेरा है न कभी मेरा होगा। अतः मुमुक्षु जनों ! सर्व सङ्कटोंका मूल देहमें आत्मबुद्धि जानकर इस मोहको छोड़ो और ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्माको आत्मा जानो।

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रान्तरग्रहम् ॥ ७७ ॥

अन्वय—आत्मनि एव आत्मधी वस्त्रं त्यक्त्वा वस्त्रान्तरग्रह इव आत्मनः अन्यां शरीरगति मन्यते।

अर्थ—आत्मामें ही है आत्मबुद्धि जिसकी ऐसा ज्ञानी आत्मा वस्त्रको छोड़कर नया वस्त्र ग्रहण करनेकी तरह आत्मासे भिन्न शरीरकी अवस्थाको निर्भयतापूर्वक मानता है।

तात्पर्य—जो पुरुष आत्माको ही आत्मा मानता है वह मरण-समयमें यों जान रहा है कि जैसे कोई पुरुष पुराने वस्त्रको छोड़कर नवीन वस्त्रको ग्रहण करता है ऐसे ही यह मैं पुराने शरीरको छोड़कर नवीन शरीरको ग्रहण करने जा रहा हूँ, शरीरके वियोग से मेरा विनाश नहीं होता। यह ज्ञानी वर्तमान भव की जीवित अवस्थामें भी बालपन, जवानी आदि कुछ भी शरीरकी अवस्था हो उस सबको अपनेसे भिन्न मानता है। इसी कारण वह निर्भय और प्रसन्न रहता है। अतः हे हितार्थी पुरुषों ! अपना निर्भयता और प्रसन्नताके अर्थ शरीरकी सब अवस्थाओं को अपने से भिन्न समझो।

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे ।
जार्गति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्च त्मगोचरे ।। ७८ ।।

अन्वय—यः व्यवहारे सुषुप्तः स आत्मगोचरे जागर्ति च आत्मगोचरे सुषुप्तः स अस्मिन् व्यवहारे जागर्ति ।

अर्थ—जो जीव व्यवहारमें सोया हुआ है वह आत्माके विषयमें जागता है और जो आत्माके विषयमें सोया हुआ है वह इस व्यवहारमें जागता है ।

तात्पर्य—जो जीव संकल्प, विकल्प, प्रवृत्ति, परिहार आदि व्यवहारकी ओरसे सोया हुआ है अर्थात् इन व्यवहारोंमें उलझता नहीं है इनमें प्रयत्न नहीं करता है वह तो आत्माके संवेदनमें उद्यमी रहता है, आत्मामें जागता है, ज्ञानमय स्वरूपका संवेदन करके निर्दोष सहज आनन्दरस से तृप्त होकर वास्तविक सचेत जगा हुआ रहता है और जो जीव आत्माके विषयमें सोया हुआ है, अचेत है कुछ जानता नहीं है वह विकल्प प्रवृत्ति आदिके व्यवहार में जागता है अर्थात् व्यवहारमें लगकर दुःखी होता है । इस कारण हे भव्य जनो ! आत्मजगत्को ही परमानन्दमय अवस्था जानकर व्यवहारसे हटकर आत्माके ज्ञान, श्रद्धान और रमणमें यत्न करो ।

आत्मानमन्तरे दृष्टवा दृष्टवा देहादिकं वहिः ।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ।। ७९ ।।

अन्वय—अन्तरे आत्मानं दृष्टवा बहि देहदिकं दृष्टवा तयो अन्तर-विज्ञानात् अच्युतः भवेत् ।

अर्थ—अन्तरङ्गमें आत्माको देखकर, बाह्य शरीरादिकको देखकर उन दोनोंमें भेदके विज्ञानसे तथा अभ्याससे अच्युत होता है ।

तात्पर्य—जो आत्मा अपने भीतर आत्माके स्वरूपका परिचय कर लेता है और बाहर स्थित शरीर आदिक परप्राण्यों व परिभाषाओं जैसा उनका स्वरूप है वैसा जान लेता है अर्थात् आत्मा और अनात्मामें भेदविज्ञान कर लेता है और भेदविज्ञान करके उस भेदरूपसे निरखनेका अभ्यास कर लेता है और पर

द्रव्य व परभावसे हटकर विज्ञानघनैक रस आनन्दमय निज आत्मामें दृढ़ उपयोगी हो जाता है वह अच्युत हो जाता है अर्थात् निजस्वरूपरमणसे भ्रष्ट नहीं होता है याने मुक्त हो जाता है। हे हितार्थी जनों ! शुद्ध आत्मस्वरूपमें और अन्य चेतन अचेतन परद्रव्यों व रागादिक परभावोंमें भेदविज्ञान करके सब परद्रव्योंसे व परभावों से भिन्न आत्माको जान लेनेमात्रसे मोक्ष नहीं होता है, किन्तु उसके पश्चात् आत्मस्वरूपकी निरन्तर भावना होनेसे मोक्ष होता है। अतः सत्यानन्दप्रदायिनी शुद्धात्मावन में निरन्तर उपयुक्त होओ।

पूर्वं दृष्टवात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत्।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात्काष्ठपाषाणरूपवत् ॥ ८० ॥

अन्वय—पूर्वं दृष्टवात्मतत्त्वस्य जगत् उन्मत्तवत् विभाति, पश्चात् स्वभ्यस्तात्धियः काष्ठपाषाणवत् विभाति।

अर्थ—प्रथम ही जिसने आत्मतत्त्व देखा है उसको जगत् उन्मत्तकी तरह मालूम पड़ता है, फिर भले प्रकार अभ्यस्त हो गई है आत्मबुद्धि जिसकी ऐसे उस ज्ञानीको काष्ठ पत्थर की तरह मालूम होने लगता है।

तात्पर्य—जिस आत्माने प्रथम ही प्रथम आत्माके स्वरूपको देहादिक परपदार्थोंसे भिन्न रूपसे जाना है ऐसे योगीको यह जगत् यों मालूम पड़ने लगता है कि देखो यह सारा जगत् उन्मत्तसा बन रहा है, इसको स्वरूपका चिन्तन ही नहीं मिलता कैसी बाह्यमें शुभ या अशुभ प्रवृत्ति करके चैन और चतुराई मान रहा है कैसे कैसे नाना विकल्पोंमें जकड़ा जा रहा है। यही योगी जब ज्ञानमय आत्मतत्त्वकी भावनाका दृढ़ अभ्यासी हो जाता है, निष्पन्नयोग हो जाता है, निश्चल आत्मस्वरूपका स्पष्ट संवेदक हो जाता है तब यह सारा जगत काष्ठ पत्थरकी तरह उपेक्ष्य और निश्चेष्ट मालूम देता है। ऐसा मालूम देनेके दो कारण हैं (१) इस योगीको जगतके विषयमें किसी भी प्रकारकी चिन्ता नहीं होती (२) सब जीवोंमें उस योगीको निष्क्रिय ज्ञानघनैकरस आनन्दस्वरूप चैतन्य प्रभु ही दृष्ट होता है। हे हितार्थी जनो ! ऐसी निराकुल अवस्था शुद्ध आत्माकी भावना से प्रकट होती है। अतः योग व उपयोग को सम्हालकर शुद्ध आत्माकी पहिचान व भावनामें यत्न करो।

शृण्वन्नप्यन्यत: कामं वदन्नपि कलेवरात् ॥

नात्मानं भावयेद् भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥८१ ॥

अन्वय—अन्यत: शृण्वन् अपि कलेवरात् वदन् अपि यावत् आत्मानं भिन्न न भावयेत् तावत् मोक्षभाक् न ।

अर्थ—गुरुजनादिसे खूब मन भरकर सुनता हुआ भी, अपने मुखसे दूसरोंको बतलाता हुआ भी जब तक कोई अपने आत्माको विविक्त नहीं भाता है तबतक मोक्षका भाजन नहीं होता ।

तात्पर्य—कोई जीवज्ञानी गुरुजनोंसे आत्माकी चर्चा खूब मन भर सुनें और अन्य श्रोताओंको खूब विश्लेषण कर-कर समझावे, बतावे तो भी उस आत्मस्वरूपको अपने लक्ष्यमें लेकर उसका ज्ञात न करे और उस ज्ञात हुए सहज ज्ञानस्वरूपकी ज्ञानात्मक परिणति द्वारा भावना न करे तो यह जीव मोक्षका अधिकारी नहीं हो सकता। इस कारण हे सुखार्थियों ! सहज ज्ञानमय आत्म-स्वरूपकी भावना करो ।

तथैव भावयेद्देहाद् व्यावृत्यात्मानमात्मनि ।

यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥ ८२ ॥

अन्वय—देहात् आत्मानं व्यावृत्य आत्मनि तथैव भावयेत् यथा पुन: स्वप्ने अपि देहे आत्मान न योजयेत् ।

अर्थ—शरीरसे आत्माको भिन्न जानकर आत्मामें आत्माको ऐसी निश्चलतासे भावे जिससे कि फिर स्वप्नमें भी देहमें आत्माको न जोड़े ।

तात्पर्य—शरीर पुद्‌गलस्कन्ध है अचेतन है और आत्मा चेतना पदार्थ है इस प्रकार इन दोनोंमें भेदविज्ञान करके फिर इस ज्ञानानन्दमय आत्माको ऐसी दृढ भावनासे भावे कि फिर स्वप्नमें भी यदि देह उपलब्ध हो उपयोगके सामने आवे तो भी देहको आत्मा न मान सके अर्थात् स्वप्न भी आवे तो ज्ञानमय भावना बनी रहे ।

अपुण्यमव्रतै: पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयो र्व्यय ।

अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्तत्यजेत् ॥८३ ॥

अन्वय—अव्रतैः अपुण्यं व्रतैः पुण्यम्, तयोः व्ययः मोक्षः ततः मोक्षार्थी अव्रतानि इव व्रतानि अपि त्यजेत् ।

अर्थ—अव्रतभावोंसे पाप होता है, व्रतभावोंसे पुण्य होता है उन दोनों भावोंका जो विनाश है वह मोक्ष है । इस कारण मोक्षार्थी पुरुष अव्रतोंकी तरह व्रतोंको छोड़ देवे ।

तात्पर्य—कोई पुरुष हिंसा झूठ आदि अशुभ परिणाम करे तो उससे पाप होता है और अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, गुरुसेवा आदि परिणामोंसे पुण्य होता है। यदि पुण्य पाप दोनोंका अभाव हो जाय तो मोक्ष होता है। मोक्ष ही उत्कृष्ट आनन्दस्वरूप सर्वथा शुद्ध विकास है । इस कारण मोक्षके इच्छुक पुरुषोंको चाहिये कि जैसे वह पापके छोड़नेका यत्न करता है वैसे ही पापों को छोड़कर फिर पुण्यभावसे भी निवृत्त होनेका यत्न करे ।

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठतः ।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥ ८४ ॥

अन्वय—अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठतः आत्मनः परमं पदम् संप्राप्य तानिपरित्यजेत् ।

अर्थ—अव्रतकोंको छोड़कर व्रतोंमें परिनिष्ठितः होवे फिर आत्माके परम पदको पाकर व्रतोंको भी छोड़ देवे ।

तात्पर्य—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तृष्णा आदि अव्रत भावोंको छोड़ना और अहिंसा आदि व्रतोंका पालना कल्याणमें बढ़नेमें प्रथम आवश्यक है, किन्तु ज्ञानी पुरुषने चूंकि शुद्ध आत्मतत्वकी उपलब्धिका लक्ष्य किया है अतः उस लक्ष्यमें बढ़ते-बढ़ते जब वीतरागता, स्वरूपनिश्चलताका, परमसमाधिका पद प्राप्त हो जाय तब व्रतभाव भी छूट जाते है । ऐसी विकासस्थितिके मर्मको जानकर ज्ञानी पुरुषोंको इस सहज स्वरूपको आश्रयका लक्ष्य न भूलना चाहिए जो परम पदका मूल कारण है।

यदन्तर्जल्पसंयुक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः ।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥ ८५ ॥

अवन्य—अन्तर्जल्य संयुक्तं यत् उत्प्रेक्षाजालं आत्मनः दुःखस्य मूलं तन्नाशे इष्टं परमं पदं शिष्टम् ।

अर्थ—अन्तर्जल्प सहित जो कल्पनाजाल है वह आत्माके दुःखका मूल है उसके नाश होनेपर इष्ट परम पद प्राप्त हुआ बताया गया है ।

तात्पर्य—कल्पनायें जो उठती है वे अन्दरमें कुछ अव्यक्तरूपसे शब्दोंकी गुनगुनाहट करती हुई उठती हैं यह तो कल्पनाओंका स्वरूप है । ये कल्पनायें ही आत्मा को क्लेश पहुँचाने की कारण हैं अन्यथा आनन्दमय आत्माको क्लेश कहाँसे हो सकता । उन कल्पनाजालोंके नाश होनेपर जो इष्ट है ऐसा आनन्दमय परम पद तो उपलब्ध है ही । अतः इष्ट अविनाशी आनन्दकी प्राप्तिके लिये निर्विकल्प ज्ञायकस्वरूपकी भावना करके इन कल्पनाओंका विनाश कर देना चाहिये ।

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः ।
परमात्मज्ञानसंपन्नः स्वयमेव परो भवेत् ।। ८६ ।।

अन्वय—अव्रती व्रतं आदाय व्रती ज्ञानपरायणः परात्मज्ञानसंपन्नः स्वयं एव परः भवेत् ।

अर्थ—अव्रती आत्मा व्रतको ग्रहण करके व्रती होता हुआ फिर ज्ञानभावनानिष्ठ होकर उत्कृष्ट आत्मज्ञानसे सम्पन्न होकर परमात्मा होवे ।

तात्पर्य—इस आत्माकी प्रथम अव्रत अवस्था रहती है तब तो यह कर्तव्य है कि व्रतको ग्रहण करके अव्रत अवस्थामें होनेवाले विकल्पजालोंका विनाश करदे फिर ज्ञानभावनामें रत होकर अर्थात् ज्ञानस्वरूपमात्र आत्माके उपयोगमें निरत होकर व्रत अवस्थामें होनेवाले विकल्पजालका विनाश करे । इस उपायमें यह आत्मा उत्कृष्ट शुद्ध निर्मल आत्मज्ञानसे (केवलज्ञानसे) सम्पन्न होता हुआ स्वयं ही परमात्मा हो जाता है । आत्मविकासकी यह प्रक्रिया है । सो हे विकासार्थियों ! इस उपायसे चरम आत्मविकास करके कृतकृत्वता प्राप्त करो ।

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः ।
न मुच्यते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहाः ।। ८७ ।।

अन्वय—लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं, देह एव आत्मनः भवः। तस्मात् ये लिङ्गकृताग्रहाः ते भवात् न मुच्यन्ते।

अर्थ—भेष देहके आश्रित देखा जाता है और देह ही आत्माका संसार है। इस कारण लिङ्ग (भेष) में ही जिनकी हठ है वे संसारसे नहीं छूटते हैं।

तात्पर्य—जटा धारण करना, खड़े-खड़े ही रहना, नग्न होना आदिक भेष शरीरके धर्म हैं और शरीर ही जीवका भव है। तब जो पुरुष इन भेषोंसे मुक्ति माननेकी हठमें हैं, उन्होंने यही मान लिया समझिये कि शरीरसे मोक्ष होता है। शरीर ही तो संसार है शरीरसे मोक्ष कैसे होगा? जो भेषके आग्रही हैं वे संसारके ही आग्रही समझिये! अतः हे कल्याणार्थी पुरुषों! भेष को मुक्तिका कारण मानकर भेषका लक्ष्य व आग्रह मत करो। आत्मसाधनाकी धुनमें किसी परिग्रहके रखनेका यत्न नहीं होता है सो परिग्रहका छूटना अनिवार्य है सो समस्त परिग्रहका परिहार होनेसे जो स्थिति बने सो बनो, किंतु मोक्षको कैवल्य परिणमनसे ही मानकर केवलस्वभावका आलम्बन करो।

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ॥८८॥

अन्वय—जातिः देहाश्रिता दृष्टा देहः आत्मनः भवः, तस्मात् ये जातिकृताग्रहाः ते भवात् न मुच्यन्ते।

अर्थ—जाति देहके आश्रित देखी गयी है और देह ही आत्माका संसार है। इस कारण जो जातिमें ही आग्रह किये हुए हैं वे भवसे नहीं छूटते हैं।

तात्पर्य—ब्राह्मण, क्षत्रियादिक जातियाँ देहके आश्रित हैं। यद्यपि उच्चता और नीचता का सम्बन्ध अन्तरङ्ग आचरणसे सम्बन्धित है, तथापि लोक व्यवहारमें जातिके भेदका सम्बन्ध देहपर आधारित है। मुक्तिके लिये जातित्व का अध्यवसाय करना कि मैं अमुक श्रेष्ठ जाति का हूं मेरा मोक्ष होगा ही! ऐसा आग्रह जिनके हैं उनको मोक्ष नहीं होता है, क्योंकि जाति का आग्रह करना देह का ही आग्रह है देह ही भव है सो जिन्होने जातिका आग्रह किया उन्होंने ससारका

ही आग्रह किया समझिये ! अतः यद्यपि अन्तरङ्ग शुद्ध आचरणवाले जीवका शुद्ध आचरणवाले कुलमें जन्म होता है, फिर भी जातिके आग्रहके विकल्पमें मोक्ष असंभव है, इस कारण जातिका आग्रह छोड़कर ज्ञानानन्दमात्र निज सहजस्वरूपका निज सत्यका आग्रह करो ।

जातिलिङ्गविकल्पेन येषां च समयाग्रहः ।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥ ८९ ॥

अन्वय—येषां च जातिलिङ्गविकल्पेन समयाग्रहः ते अपि परमात्मनः पदं नैव प्राप्नुवन्ति ।

अर्थ—और, जिन पुरुषोंके जाति और लिङ्गके विकल्प द्वारा अपने अभिमत आगमका आग्रह है वे भी परमात्माका पद नहीं प्राप्त करते हैं ।

तात्पर्य—हमारे शास्त्रों में अमुक अमुक जातिवालेको, अमुक अमुक वेष वालेको मोक्ष बताया है सो हम भी इस कारण मोक्ष पावेंगे ही, ऐसे आग्रहको 'समयाग्रह' कहते हैं । तो आगममें जिनका अभिप्राय जकड़ा हुआ है वे भी परमात्मपदको प्राप्त नहीं कर सकते, उनकी प्रकम्पित परतत्त्वमें दृष्टि भ्रमती है । अतः मुमुक्षु पुरुषोंको किसी भी परतत्त्वका आग्रह नहीं करना चाहिये ।

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये ।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः ॥ ९० ॥

अन्वय—यत्त्यागाय यदवाप्तये भोगेभ्यः निवर्तन्ते मोहिनः तत्रैव प्रीतिं कुर्वन्ति अन्यत्र द्वेषं कुर्वन्ति ।

अर्थ—जिसके त्यागके लिये व जिसकी प्रीतिके लिये ज्ञानी भोगों से निवृत्त होते हैं, मोही जन उसमें ही प्रीति करते हैं और उस दूसरेमें द्वेष करते हैं ।

तात्पर्य—ज्ञानीजन इस शरीरके त्यागके लिये अर्थात् शरीरसे निर्ममत्व होनेके लिये भोगोंका त्याग करते है तो मोही जन उस शरीरमें ही प्रीति करते हैं । ज्ञानी जन वीतरागताकी प्राप्तिके लिये भोगपरिहारका यत्न करते हैं तो मोही जन वीतरागतासे द्वेष करते हैं अर्थात् वीतरागताका आदर नहीं करते हैं,

रागमें ही मौज मानते हैं अथवा शरीरकी ममताको त्यागनेके लिये भोग छोड़ा जाता है सो कोई अज्ञानी जीव भोग तो छोड़ देता है किन्तु जाति लिङ्ग पंडिताई, लोकमान्यता आदिके आश्रयसे शरीरमें ही प्रीति करते रहते हैं और जिस वीतरागताकी प्राप्तिके लिये भोग त्यागे जाते हैं सो कोई अज्ञानी जीव भोग तो त्याग देता है, किन्तु उन्हीं जाति आदिके विकल्पोंके कारण वीतरागतासे द्वेष करते रहते हैं। अत: त्यागका लक्ष्य ज्ञानस्वभावकी उन्मुखतामें तृप्ति करना जानकर निर्दोष ज्ञानभावका आदर करो।

अनन्तरज्ञः संधत्ते दृष्टिं पङ्गोर्यथान्धके।
संयोगाद् दृष्टिमङ्गेऽपि संधत्ते तद्वदात्मनः॥ ९१॥

अन्वय—अनन्तरज्ञः संयोगात् यथा अन्धके संधत्ते तद्वत् आत्मनः दृष्टिं अङ्गे अपि संधत्ते।

अर्थ—भेदविज्ञानरहित पुरुष संयोगके कारण जैसे लँगड़ेकी दृष्टिको अन्धमें आरोपित करता है उसी प्रकार आत्माकी दृष्टिको शरीरमें भी आरोपित करता है।

तात्पर्य—जिसको वस्तुस्वरूप सीमाका परिचय नहीं है ऐसा मूढ पुरुष संयोगसम्बन्धके कारण शरीरका लक्ष्य करके मानता है कि यह मैं जानता हूं, देखता हूं। जानना देखनारूप दृष्टि है तो आत्माकी, किन्तु आत्माका व देहका वर्तमानमें संयोग सम्बन्ध है इससे सीमाका उल्लंघनकर आत्माकी क्रियाकी खबर न होनेसे उस सब कार्यको शरीरमें लगाता है। जैसे कि अंधे मनुष्यके कंधेपर सूझता लंगड़ा बैठा है और सूझताके संकेतके अनुसार वह अंधा तेज चलता है तो वर्तमान गति देखकर लोग अंधेमें यह लगाता है कि यह खूब देख कर भाग रहा है। वस्तुस्वरूपकी सीमाको देखो और अज्ञान मेटकर संतोष प्राप्त करो।

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत्।
तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः॥ ९२॥

अन्वय—दृष्टभेदः यथा पङ्गोः दृष्टिं अन्धे न योजयेत् तथा दृष्टात्मा आत्मनः दृष्टिं देहेनयोजयेत्।

अर्थ—भेदद्रष्टा पुरुष जैसे लँगड़ेकी दृष्टि अन्धेमें नहीं जोड़ता है सो उसी प्रकार आत्मदर्शी पुरुष आत्माकी दृष्टिको शरीरमें नहीं जोड़ता है।

तात्पर्य—जैसे जिस पुरुषने लँगड़े और अन्धेके स्वरूपको देखकर उन दोनोंके भेद समझ लिया है वह पुरुष लँगड़ेकी दृष्टिको अन्धेमें नहीं जोड़ता है, वह यथार्थ जानता है कि भले ही यह अन्धा पैरोंसे खूब चल रहा है, किन्तु देखनेवाला इसमें यह लँगड़ा ही है। इसी प्रकार जिसने सर्वविविक्त ज्ञानानन्द घन आत्मस्वरूपका परिचय कर लिया है वह पुरुष आत्माको इस जानने देखने की कलाको देहमें नहीं जोड़ता है, वह यथर्थ जानता है कि जानता देखता आत्मा ही है, यह देह प्रयोगवश भले ही चले। यथार्थ जाननेसे मोहभाव नहीं ठहरता है अतः वस्तुस्वरूपको यथार्थ अवगत करना ही चाहिये।

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम्।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः ॥ ६३ ॥

अन्वय—अनात्मदर्शिनाम् सुप्तोन्मत्ताद्यवस्था एव विभ्रमः आत्मदर्शिनः अक्षीणदोषस्य सर्वावस्था विभ्रमः।

अर्थ—वहिरात्माओंको तो सुप्त, उन्मत्त आदिक अवस्था ही भ्रमरूप मालूम होती है किंतु अन्तरात्माको मोही जीवकी सर्व अवस्था भ्रमरूप मालूम होती है।

तात्पर्य—जिन्हें आत्मस्वरूपका यथार्थ परिज्ञान नहीं हुआ अतएव शरीरमें ही जिनके आत्मबुद्धि लगी है उनको तो सोये हुएकी हालतमें व पागल हुएकी हालतमें मालूम देता है कि यह अचेत है, बेहोश है, किंतु जिसने चित् प्रकाशमात्र आत्मतत्त्वका अनुभव कर लिया है उसे वहिरात्माकी सुप्त उन्मत्त अवस्थाकी तरह जागृत, सचेत, व्यवस्था, व्यवहार आदिक सारी अवस्थाओंमें, क्रियाओंमें यह मालूम देता है कि यह भ्रमरूप हो रहा है अचेत व बेहोश है, क्योंकि इसे न स्वका, न परका किसी भी वस्तुका यथार्थ प्रतिभास नहीं है। अथवा दूसरा भाव यह भी जानना कि आत्मज्ञानियोंको सुप्त व उन्मत्तकी दशा भी विभ्रमरूप नहीं है, क्योंकि उनके ज्ञानदृष्टिका दृढ अभ्यास होनेके कारण आत्मस्वरूपके सम्बन्धमें उस अवस्थामें भी भ्रम नहीं होता, स्वरूपसंवेदनसे

च्युत नहीं होता। सुप्त और बेहोश अवस्थामें इन्द्रियोंका अपने विषयमें प्रवृत्त होनेकी रुकावट है किन्तु आत्मसंवेदनकी रुकावट नहीं है। किन्तु, जो अपनी उपलब्ध बचपन, जवानी, बुढ़ापा, पुरुषलिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग आदि अवस्थाओंको अपना स्वरूप समझते हैं वे सुप्त व बेहोशी आदि अवस्थाको ही भ्रमरूप मानते हैं और बाकी जाग्रत, नाना व्यवहार करती हुई अवस्थाको अपनी चतुराई समझते हैं। हे मुमुक्षु पुरुषो ! तुम एक ज्ञातृत्व अवस्थाको छोड़कर अन्य विभावदशाओंको विकार व अहित जानकर आत्मसावधान रहो।

विहिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते।। ६४ ।।

अन्वय—विदिताशेषशास्त्रः अपि देहात्मदृष्टिः जाग्रत् अपि न मुच्यते। ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तः अपि मुच्यते।

अर्थ—समस्त शास्त्रोंको भी जान लिया है जिसने ऐसा भी शरीरमें आत्मबुद्धि रखने वाला वहिरात्मा जागृत (निद्रारहित) होता हुआ भी कर्मसे नहीं छुटता है किन्तु, आत्मज्ञानी पुरुष सोया व बेहोश होता हुआ भी कर्म निर्जराको करता है।

तात्पर्य—जो शरीर में ही आत्मत्वका अध्यवसाय किये हुए है वह समस्त शास्त्रोंका भी परिज्ञान किये हुए है और निद्रारहित है, व्यवहारमें जगा लगा है तो भी वह कर्मोंसे छुटकारा नहीं पा सकता है क्योंकि जिस निजको मुक्ति होना है उसे यथार्थ व देहमें भिन्न देखनेकी रुचि भी नहीं करता है। किन्तु जो आत्मज्ञानी पुरुष है वह इन्द्रियोंसे सोई हुई व इन्द्रियोंसे बेहोश हुई स्थितिमें भी हो तो भी वह विशिष्ट कर्मनिर्जराका करता है, क्योंकि बेसुप्त उन्मत्तकी स्थिति में भी आत्मस्वरूपके संवेदनसे च्युत नहीं होते हैं। अतः हे मुमुक्षु पुरुषो ! मुक्ति के अर्थ भेदविज्ञान प्राप्त करके निजस्वरूपके संवेदनके दृढ अभ्यासी बनना चाहिये।

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते।। ६५ ।।

अन्वय—पुंसः यत्र एव आहितधीः तत्र एव श्रद्धा जायते। यत्र एव श्रद्धा जायते तत्र एव चित्तं लीयते।

अर्थ—पुरुषकी जिस ओर लगी हुई बुद्धि होती है उसमें ही श्रद्धा उत्पन्न होती है। जिसमें ही श्रद्धा उत्पन्न होती है उसमें ही चित्त लीन हो जाता है।

तात्पर्य—इस जीवकी जिस वस्तुमें बुद्धि लग जाती है सावधानी रहती है, रुचि आसक्ति होती है उस ही वस्तुमें उसके श्रद्धा हो जाती है कि यही आत्महित रूप है यही सुखकारी है यही सार है। और, जिस वस्तुमें श्रद्धा हो जाती है चित्त उसी वस्तुमें लीन हो जाता है। इस कारण हे भव्य पुरुषो! यदि आनन्दघन निज स्वरूपमें लीन होना चाहते हो तो निरन्तर इस आनन्दघन प्रतिभासस्वरूप आत्मतत्त्वमें अपनी बुद्धि लगावो।

यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।

यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः॥ ९६॥

अन्वय—पुंसः यत्र अनाहितधीः तस्मात् श्रद्धा निवर्तते। यस्मात् श्रद्धा निवर्तते चित्तस्य तल्लयः कुतः।

अर्थ—पुरुषकी जिनमें न लगी हुई बुद्धि होती है उससे श्रद्धा हट जाती है, जिससे श्रद्धा हट जाती है फिर उसमें तल्लीनता कैसे हो सकती है?

तात्पर्य—जीवकी बुद्धिका जिस वस्तुकी ओर रंच भी आकर्षण नहीं है उस वस्तुसे श्रद्धा हट जाती है। वह उस वस्तुमें हितरूपताका, समीचीनताका रंच भी भाव नहीं रखता। जिस वस्तुसे श्रद्धा हट जाती है अनेकों उपाय करो उस वस्तुमें फिर चित्त लीन नहीं होता। इस लोकमें प्राणीका प्रायः आकर्षण विपत्तिके स्थानभूत विषयोंकी ओर रहता है और श्रद्धा व चित्तलीनता भी विषयमें रहती है। किन्तु, इसमें रहकर जीवन भी समाप्त हो जायगा, लाभ कुछ न मिलेगा बल्कि हानि ही सारी उठानी पड़ेगी। अतः हे मुमुक्षु जनो! यदि संसारके संकटोंसे, विपदाओंसे दूर होना चाहते हो तो ऐसा विवेक करो जिससे विषयोंकी ओर बुद्धि न लगे।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः ।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ।। ९७ ।।

अन्वय—आत्मा भिन्नात्मानं उपास्य तादृशः परो भवति । यथा भिन्ना वर्तिः दीपं उपास्य तादृशी भवति ।

अर्थ—आत्मा भिन्न परमात्माको आराध करके वैसा ही परमात्मा हो जाता है जैसे भिन्न बत्ती दीपकको संयुक्त करके दीप जैसी हो जाती है ।

तात्पर्य—ज्ञानी पुरुषका चित्त जिसमें लीन होता है वह विषय या तो परमात्मा है या निज आत्मस्वरूप है । सो परमात्मा यद्यपि इस आराधकसे भिन्न पदार्थ है तो भी अखण्ड स्वभावका माध्यम होनेसे पृथग्भूत भी अरहंत सिद्ध (सकलपरमात्मा व निकलपरमात्मा) देवकी उपासना करनेसे आराधक अर्हन्त सिद्धस्वरूप हो जाता है । जैसे कि दीपकसे बत्ती भिन्न है तो भी बत्ती दीपकके निकट पहुँचनेसे दीपक बन जाती है । परमात्माके ध्यानसे आत्मस्वरूप का अभेदध्यानी बनकर यह आत्मा परमात्मा हो जाता है । अतः शुद्ध विकासके इच्छुक जनो ! परमात्मस्वरूपकी उपासनामें बुद्धि लगावो ।

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा ।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः ।। ९८ ।।

अन्वय—अथवा आत्मा आत्मानं एव उपास्य परमः जायते । यथा तरुः आत्मान मथित्वा आत्मैव अग्निः जायते ।

अर्थ—अथवा आत्मा अपने आपको ही आराध करके परमात्मा हो जाता है । जैसे कि वृक्ष अपने आपको मथ करके स्वयं ही अग्नि हो जाता है ।

तात्पर्य—यह आत्मा अपने चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वकी ही उपासना करके ज्ञानमय अनुभवकी परिणति द्वारा निर्मल और समृद्ध होकर स्वयं परमात्मा हो जाता है । परमार्थसे तो इसी उपायसे परमात्मत्व प्रकट होता है । इस अभेदोपासनाकी स्थितिकी योग्यता परमात्मस्वरूपके ध्यानसे प्रकट होती है । इस कारण पहिले श्लोकमें भिन्न परमात्मत्वकी उपासनाकी उपादेयता कही गई है । अन्तमें इस सहज परमात्मत्त्वकी अभेदोपासनासे परमात्मत्व प्रकट होता

है, जैसे बांसके खड़े वृक्ष आपसमें रगड़ करके अग्निरूप हो जाते हैं। इसलिये हे हितार्थियो ! इस सहज परमात्मतत्त्वकी अभेदोपासना करनेका यत्न करो।

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचां गोचरं पदम् ।
स्वत एव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः ॥ ९९ ॥

अन्वय—इति इदं नित्यं भावयेत्, तत् अवाचां गोचरं पदं स्वतः एव आप्नोति ततः पुनः न आवर्तते ।

अर्थ इस प्रकार इस आत्मस्वरूपकी नित्य भावना करनी चाहिये। इससे आत्मा वचनागोचर उस पदको स्वतः ही प्राप्त कर लेता है जिससे फिर कभी नहीं लौटता है।

तात्पर्य—भिन्न परमात्मस्वरूपकी और अभिन्न सहज ज्ञानानन्दस्वरूप की नित्य भावना करनी चाहिये। इसमें अभेदोपासनाका साधकतम उपाय भेदोपासना है। सो भेदोपासनाके उपायसे अभेदोपासनाको दृढ़ करना चाहिये। इस प्रकार ज्ञानोपसनाके बलसे परमपद अर्थात् मोक्षपद प्रकट होता है जिस पदकी प्राप्तिके बाद कभी भी लौटकर अपरमपदमें याने संसारमें लौटना नहीं होता है। अतः हितार्थी जनो ! उक्त रीतिसे भिन्न और अभिन्न परमात्मस्वरूप की भावना करो जिससे संसारके समस्त संकटोंसे छुटकारा मिले।

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्त्वं भूतजं यदि ।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित् ॥ १०० ॥

अन्वय—यदि चित् तत्त्वं भूतजं, निर्वाणं अयत्नसाध्यम्, अन्यथा योगतः, तस्मात् योगिनां क्वचित् दुःखं न ।

अर्थ—यदि चैतन्य तत्त्व भूतज हो तो निर्वाण यत्नसाध्य नहीं होगा ऐसा नहीं है तब ही योगसे निर्वाण होता है। इस कारण योगिजनोंको किसी भी परिस्थितिमें दुःख नहीं होता है।

तात्पर्य—कोई पुरुष इस चैतन्य तत्त्वको अर्थात् जीवको पृथ्वी, जल, अग्नि व वायु इस भूतचतुष्टयसे उत्पन्न हुआ मानते हैं। यदि ऐसा माना जाय तो जीवका वास्तवमें निर्वाण ही क्या होगा ? भूतचतुष्टय विखरे और जीवका

अभाव हो गया। भूत ादियोंके यहाँ निर्वाणका स्वरूप ही नहीं बनता। यदि इसीको ही निर्वाण कहें तो ऐसे आत्मविनाशरूप निर्वाणको कौन चाहेगा ?

अथवा कोई पुरुष ऐसा मानते हैं कि यह चेतन सदा शुद्ध होनेरूप स्वरूपमें ही है अर्थात् सदा शुद्ध है तो उस मन्तव्यमें भी निवत्ण ध्यानादिक यत्नों द्वारा साध्य नहीं हुआ उसका निवत्ण तो अनादिसे ही है।

यहाँ निवत्णके सम्बन्धमें दो विकल्प उठाकर भी ज्ञात किया जा सकता है कि निवत्ण भूतज है अर्थात् स्वभावज है या यत्नसाध्य है ? इसका उत्तर यह है कि निष्पन्न योगीके निवत्ण तो भूतज है अर्थात् स्वभावज है और प्रारब्ध योगीके निवत्ण यत्नसाध्य है। इन दोनों मन्तव्योंका विवरण इस प्रकार है—

निष्पन्नयोगी उसे कहते हैं जिसका आत्मस्वरूपावलंबन अविचल है, वचन शरीर इन्द्रियोंसे विक्षिप्त नहीं होता है, आत्मयोग निष्पन्न हो चुका है, उसका निवत्ण भूतज है अर्थात् स्वभावसे उदित हुआ है अथवा अयत्नसाध्य है अर्थात् बिना प्रयास परिश्रम बाह्य तपके बिना सिद्ध हुआ है। इसका कारण यह है कि निष्पन्न योगीके आत्मस्वरूपका अभेदसंवेदन होनेसे आत्मस्वरूपलाभ हो चुका है सो ऐसा चैतन्य तत्त्व होनेसे कर्मबन्धका अभाव हो गया है तब निवत्ण अयत्नसाध्य हुआ, भूतज हुआ।

भूतजका अर्थ यहाँ स्वभावसे होना लिया गया है, क्योंकि भूतजकी व्युत्पत्ति और प्रयोजना इस प्रकार है—जो सहज है उसे भूत कहते हैं उससे जो उदित हो सो भूतज है। निष्पन्न योगीको निर्वाण चूंकि आत्मस्वरूपका अभेदसं-संवेदनरूप योग निष्पन्न हो चुका है इससे भूतज और अयत्नसाध्य है।

प्रारब्धयोगी उसे कहते हैं जिसने आत्मयोगका, आत्मसंवेदनका प्रारम्भ किया है ऐसे पुरुषोंको चित्तवृत्तिके निरोधका यत्न करना होता है इसके अर्थ अन्तरङ्गमें तो स्वरूपसंवेदनका अभ्यासरूप परमतप किया जाता है और बाह्य में अनेक दुर्धर तप भी किये जाते हैं। इस योगीको स्वरूपसंवेदनकी रुचि अत्यधिक प्रबल है इस कारण स्वरूपसाधनाके लक्ष्यमें रहनेसे और आनन्दमय स्वरूपका संवेदन होनेसे उन्हें किसी भी अवस्थामें दुर्धर अनुष्ठानमें किसीके द्वारा किये गये भयङ्कर उपसर्गमें भी दुःख नहीं होता है।

इस श्लोकसे हमें श्रद्धा और आचरण की शिक्षा मिलती है—(१) अपने चैतन्यस्वरूप को अनादि सत् मानो (२) अपना आत्मा यद्यपि अनादिसे विकारपरिणमनरूप चल रहा है तो भी सम्यक्ज्ञानयोगके आचरणसे निर्विकार मुक्त हो सकते हैं। (३) जब आत्मसाधनाका प्रारम्भ हो और उसके अभ्यास में चलना हो तब बड़े यत्नसे व्रत संयम तप अनुष्ठान करके आत्मसाधना करना चाहिये। (४) आत्मयोगाभ्यासमें स्वरूपसंवेदनसे सहज स्वाधीन सत्य आनन्द प्रकट होता है, जिस आनन्दकी तृप्तिके कारण बाह्यके दुर्धर तप, उपसर्ग आदि का रंच भी क्लेश नहीं होता है। (५) आत्मयोगके दृढ़तम अभ्याससे जब यह ज्ञानात्मक अनुभवन निष्पन्न हो जाता है, वीतरागदशा प्रकट हो जाती है तब आत्मलाभ होनेसे निर्वाण अयत्नसाध्य अर्थात् बिना प्रयासके सहजसिद्ध हो जाता है। अतः हे मुमुक्षु जनो ! ऐसे ही महापुरुषोंके पदचिन्होंके अनुगामी होकर निर्वाण प्राप्त करो।

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथात्मनः।
तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषतः ॥१०१॥

अन्वय—स्वप्ने दृष्टे विनष्टे अपि यथा आत्मनः नाशः न अस्ति तथा जागरदृष्टे विनष्टे अपि विपर्यासाविशेषतः आत्मनः नाशः न अस्ति।

अर्थ—जैसे स्वप्नमें दृष्ट अपने शरीरादिका नाश होनेपर भी अपना नाश नहीं होता है उसी प्रकार जागृत अवस्थामें देखे गये शरीरादिकके वियोग होनेपर भी स्वप्नभ्रम और जागरभ्रमकी समानता होनेसे आत्माका नाश नहीं है।

तात्पर्य—जैसे नींदमें ऐसा स्वप्न आवे कि यह मैं मर गया, तो क्या वहाँ नींद लेनेवाला यह मर गया ? नहीं मरा ! वह तो नींदमें स्वप्नमें ऐसा झूठा स्वप्न देख रहा है, भ्रम कर रहा है। इसी प्रकार आँखोंसे जगते हुए भी मोहनींदके स्वप्नमें अर्थात् मोहजन्य कल्पनामें शरीरादिकके वियोगसे यह मोही अपना नाश मानता है किन्तु वास्तवमें वहाँ आत्माका नाश नहीं हो रहा है जैसे नींद में स्वप्नवालेने भ्रम किया ऐसे ही मोहमें कल्पनावश इस मोहीने भी भ्रम किया है। हे आत्मार्थी पुरुषो ! अपने आपको अविनाशी ज्ञानघन जानकर देह के वियोगको अपना नाश मत मानो।

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥ १०२ ॥

अन्वय—अदुःखभावितं ज्ञानं दुःखसन्निधौ क्षीयते । तस्मात् मुनिः यथाबलं दुःखैः आत्मानं भावयेत् ।

अर्थ—बिना कष्टके प्रकट हुआ भेदावज्ञान आत्मज्ञान दुःखोंकी उपस्थिति होनेपर नष्ट हो जाता है । इस कारण योगी पुरुषको शक्तिके अनुसार कायक्लेशादिक तप सहित आत्मस्वरूपकी भावना करनी चाहिये ।

तात्पर्य—वस्तुस्वरूपका बार बार ज्ञान मनन चिन्तन करनेके सुकुमार उपाय द्वारा कष्ट सहे बिना जिसे आत्मस्वरूपका परिज्ञान हुआ है उस पुरुषपर कदाचित् कोई कष्ट आ पड़े तो वहां यह सम्भावना अत्यधिक है कि उसका वह ज्ञान क्षीण हो जाये, क्योंकि उस पुरुषको कष्ट सहनेका तो अभ्यास ही न था । इस कारण ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि शक्तिके अनुसार नाना कायक्लेशादिक तपोंको करके कष्टसह बनता हुआ अर्थात् कष्टोंके सहनेकी क्षमता उत्पन्न करता हुआ आत्मस्वरूपकी भावना करे । इसमें यह शिक्षा दी गई है कि हितार्थीको शक्त्यनुसार व्रत, नियम, तप, संयम आदिको निभाना चाहिये और उसमें कोई कष्ट भी आये तो कष्टसहिष्णु बनना चाहिये ऐसी वृत्ति सहित वह आत्मस्वरूप की भावनामें प्रगति करे ।

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितात् ।
वायोः शरीरयन्त्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥ १०३ ॥

अन्वय—आत्मनः इच्छाद्वेषप्रवर्तितात् प्रयत्नात् वायुः, वायोः शरीरयंत्राणि स्वेषु कर्मसु प्रवर्तन्ते ।

अर्थ—आत्माके इच्छा और द्वेषसे प्रवर्तित प्रयत्नसे शरीरमें वायु चलती है, वायुसे शरीररूपी यंत्र अपने अपने कार्य में प्रवर्तते हैं ।

तात्पर्य—यह शरीरयंत्र नानारूपसे प्रवृत्त होता है इस शरीरके अङ्गों की क्रियाके निमित्तसे बाह्य पदार्थोंका उठना, गिरना, चलना आदि होता है । इसे देखकर वस्तुस्वरूपसे अनभिज्ञ पुरुष ऐसा भाव बनाते हैं कि मैंने हाथ पैर

चलाया या अमुक चीज उठाया, गिराया, बिगाड़ा, बनाया इत्यादि । उन पुरुषों को इस श्लोकसे हितशिक्षा मिलती है कि देखो किसी परवस्तुको आत्मा उठाता धरता बिगाड़ता बनाता नहीं है । यह निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे अपने अपने उपादनोंमें अपनी अपनी परिणतिसे परिणमन होता है। अतः कोई यह न माने कि मैं देहकी क्रिया करता हूँ या परवस्तुको बनाता बिगाड़ता हूँ । परकर्तृत्वके आशयमें यह जन्ममरणकी परम्परारूप संसारसंकट बनता है । अब इस निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धको देखिये—

इस प्रसङ्गके मूलमें आत्माने इच्छा अथवा द्वेष भावरूप परिणमन किया इस विभापरिणमनके निमित्तसे आत्मामें ही योगपरिस्पन्दरूप प्रयत्न हुआ । इस परिस्पन्दरूप प्रयत्नके निमित्तसे एक क्षेत्रावगाहबन्धनमें प्राप्त इस शरीरमें वायुनामक उपधातुका संचरण हुआ । उस वायुके संचरणके निमित्तसे वहाँ उपस्थित अन्य परपदार्थमें संचलन हुआ ।

यहाँ दो बातोंको मुख्यतया जानना चाहिये (१) आत्मा शरीरके संचलनका भी कर्ता नहीं है फिर अन्य परवस्तुओंका तो कर्ता कैसे होगा ? (२) अन्य परवस्तुओंके धरे जाने, बनने, सुधरने आदि क्रियावोंका यह आत्मा निमित्त भी नहीं है, किन्तु इन परवस्तुवोंकी क्रियावोंके निमित्तके निमित्तया निमित्त है । सो भी आत्मनिमित्त नहीं, किन्तु आत्माके योग और विभाव-निमित्त है ।

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्ते सुखं जड़ः ।
त्यक्त्वाऽशेषं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम् ।। १०४ ।।

अन्वय—जड़ः साक्षाणि तानि आत्मानि समारोप्य असुख आस्ते, पुनः विद्वान् आरोपं त्यक्त्वा परमं पदं प्राप्नोति ।

अर्थ—अज्ञानी जीव इन्द्रियसहित उन शरीरयन्त्रोंको आत्मामें आरोपित करके दुःखपूर्वक रहता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष उस आरोपको त्यागकर परम पदको प्राप्त होता है ।

तात्पर्य—अज्ञानी जीवको चूंकि अपने आत्माके सहजस्वरूपका परिचय नहीं है इस कारण इन्द्रियों सहित जो शरीर के अङ्गादिक यन्त्र हैं उनमें

आत्मत्वका आरोप करके ऐसा मानता है कि मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं सुडौल हूँ, मैं उत्तम नेत्रवाला हूँ इत्यादि। परन्तु जो वस्तुस्वरूपके वेत्ता हैं वे शरीरमें आत्माकी कल्पना नहीं करते हैं और आत्माको आनन्दमय ज्ञानघनैकरसरूपसे अनुभव कर परमपदको मोक्षको प्राप्त करते हैं। हे आत्मार्थी जनो! परमपदकी प्राप्तिके अर्थ शरीरमें आत्मबुद्धि न करके आत्माका आत्मस्वरूपमें अर्थात् ज्ञान-स्वरूपमें अनुभव करो।

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च,
संसारदुःखजननीं जननाद्विमुक्तः।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठ-
स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितन्त्रम् ॥ १०५ ॥

अन्वय—तन्मार्गं एतत् समाधितन्त्रं अधिगम्य संसारदुःखजननीं परत्र अहंधियं च परबुद्धिं मुक्त्वा परात्मनिष्ठः जननात् विमुक्तः ज्योतिर्मयं सुखम् उपैति।

अर्थ—परमपदकी प्राप्तिके उपायभूत इस समाधितन्त्रको अनुभव करके संसारदुःखोंको उत्पन्न करने वाली "परपदार्थभूत शरीरमें यह मैं हूँ यह दूसरा आत्मा है" ऐसी बुद्धिको जोड़कर परमात्मत्वकी भावनामें स्थित होकर संसारसे मुक्त होता हुआ यह आत्मा ज्योतिर्मय सुखको प्राप्त करता है।

तात्पर्य—इस अन्तिम श्लोकमें पूर्ववर्णित उपदेशोंके उपसंहारमें अति संक्षेपमें अनेकों उपयोगी विषयोंका संकेत है—(१) इस ग्रन्थमें जो भाव दिखाया है वह समाधिका, परम समताका उपाय है इस कारण इन सब भाव-नाओंका नाम समाधितन्त्र है। (२) यह समाधितन्त्र निर्वाणकी, परमसुखकी, परमशान्तिकी प्राप्तिका उपाय है। (३) समाधिके गूढ़ तन्त्रोंका वर्णन होनेसे इस ग्रन्थका नाम समाधितन्त्र है। (४) इस ग्रन्थका अथवा ऐसे ही भाव प्रदर्शित करनेवाले वचनोंका अध्ययन मनन करना कल्याणार्थीका कर्तव्य है। (५) फिर इसमें जो समाधिके तन्त्र बताये हैं उनको अपने अनुभवमें उतारना कल्याणार्थीका कर्तव्य है। (६) इन दृष्ट शरीरोंमें एक शरीरमें यह मैं हूँ और बाकी शरीरोंमें ये दूसरे जीव हैं ऐसे शरीरोंमें स्व-परका आरोप करना संसार-

दुःखोंका मूल है, ऐसा जानकर उस बुद्धिका त्यागना कर्तव्य है। (७) फिर आत्मविकासमें प्रगति करनेके लिए उत्कृष्ट आत्मस्वरूप में निष्ठ अर्थात् अविचल उपयोगी होना चाहिये। (८) ऐसी स्थिति अनुभूति पानेके बाद यह आत्मा संसारसे मुक्त होता है। (९) मुक्त अवस्थामें यह आत्मा ज्योतिर्मय सुखको प्राप्त करता है अर्थात् अपने आपका जो सहजसिद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव है उसको ही पूर्ण व्यक्त करके निराकुलताका अनुभव करता है। (१०) उक्त तत्त्वभूत ९ तन्त्रोंका, जो कि सर्वतन्त्रोंके प्रतिनिधिरूप हैं, विन्यास इस छन्दमें इस प्रकार किया है जिससे मानों यह अन्तिम छन्द भव्यपुरुषोंसे यह आग्रह कर रहा है कि ऐसा अपूर्व अवसर पाकर अब उत्कृष्ट आनन्दविकासके उपाय-रूप समाधिके तन्त्रोंका आचरण करनेमें विलम्ब मत करो और निर्विकल्प समाधिरूप परिणत होकर कृतकृत्य होओ।

इति श्रीमत्पूज्यपादाचार्यदेवविरचितं क्षुल्लकमनोहरवर्णिसहजानन्दकृत-सान्वयार्थतात्पर्यालङ्कृतं समाधितन्त्रं समाप्तम्